प्रकाशक—
अमृतमलजी सिंघी-आबूरोड़ ।

मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
जैनविजय प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला, सूरत ।

# प्रकाशकका वक्तव्य ।

हमें जिस पुस्तककी बहुत अर्सेसे आवश्यक्ता प्रतीत होती थी, आज हम उस पुस्तकको हिन्दी भाषामें प्रकट करनेको शक्तिमान हुए हैं । हमे अब यही देखना अवशेष रह जाता है कि हिन्दी भाषा भाषी समाज इन पुस्तकोंकी कदर करनेके लिये कितने अंशमें तत्पर है । यदि इस पुस्तकका अधिक प्रचार होगा तो भविष्यमें हम ऐसी अनेक पुस्तकोंको हिन्दी विजय ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित करेंगे और हिन्दी साहित्यको विस्तारित करनेकी हमारी योजनाओंको क्रमसे अमलमें रखते जाएंगे ।

यहां पर यह उल्लेख करना अनुचित नहीं मालूम होगा कि इस ग्रन्थमालाका जन्म किन संयोगोंमें और कैसे हुआ ? जब पंडित वर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराजका आगमन मारवाड़से सिरोहीमें हुआ तब उनसे हमारे परस्पर यह बात हुई कि हिन्दी भाषामें कोई ग्रन्थमाला प्रकाशित की जाय । उनकी सम्मति अनुसार हमने यह कार्य करना शुरू किया जिसमें हमारे विद्वद्वर्य्य मुनिराज वीरविजयजी महाराजने भी पूरा साथ दिया और इन दोनों मुनिराजोंकी सम्मति अनुसार × हिन्दी संवर्द्धिनी समिति कायम की । परन्तु यह हमेशा विश्वका अटल नियम है कि अच्छे कार्य्यमें सदा विघ्न आया करते हैं, और बात भी यही बनी कि हमारे ग्रन्थ-मालाके सम्पादक और पुस्तकोंके लेखक दोसी ताराचंद्र बीमार हो गये और ये करीब पांच छ महीने बीमार रहे इसी बीचमें

---

× इसके सेक्रेटरीसे Prospectus और नियम मंगाकर देखे ।

इनकी मातुश्री और दादीजीने भी काल कर लिया। अतएव ये विटम्बनाओंसे गिर गये और आठ महीने तक कुछ भी कार्य नहीं कर सके। इसलिये हम हमारे पाठकोंसे माफी चाहते हैं जो कि असें ईस पुस्तकको पढ़नेके लिये आतुर हो रहे हैं।

हमें अपने पाठकोंको यह दिखाते हुए हर्ष होता है कि अब हमारे मुनिगण सार्वजनिक और शिक्षा रहितके कार्यमें भाग लेने लग गये हैं। हमारी समितिके निम्न लिखित मुनिगण और साध्वि-ओंने भी संरक्षक होना कबूल किया है यदि हमें हमारे मुनिराजों साध्वियों, सेठों और सहायकोंकी ओरसे सहायता मिलती रही तो हम हमारे आदर्श पुरुषोंकी जीवनिमें इसी प्रकारका रस रेडते रहेंगे और उसका स्वाद जनसमाजको चखाते रहेंगे।

इतना नहीं अलावा इसके हम साहित्य आंग, उपांग और स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें भी इसी माला द्वारा हिन्दी भाषामें प्रकाशित करेंगे।

श्रीमद् पंडितवर्य्य मुनिराज धीरविजयजी महाराज
,, पंडितवर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराज
,, ,, मुनिराज क्षेमसागरजी महाराज
श्रीमति साध्वीजी श्री गुणसरीजी महाराज

इस मालाके द्वारा अभी दो पुस्तकें निकलनेवाली हैं एक यही प्रस्तुत पुस्तक है:—

(१) **महावीर-जीवनविस्तार**-मुनिराज श्रीहरिसागरजी महाराजके उपदेशानुसार शेठ जेठालालजी कुशलचंद्रजी जामनगरवालोंकी ओरसे।

(२) **ज्ञानसार**-(श्लोक और हिन्दी भाषान्तर)-साध्वीजी श्री गुणश्री जीमहाराजके उपदेशानुसार खरतगढ़के श्रावक श्राविकाओंकी ओरसे।

## नये प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ

१ तीर्थङ्कर चरित्र-(इसमें चोवीस ही तीर्थंकरोके जीवन चरित्र होगे)
२ श्राविका सुबोध दर्पण--(स्त्री उपयोगी ग्रन्थ)
३ जीवन शक्तिका संगठन-(स्वास्थ्य रक्षाका अपूर्व ग्रन्थ )
४ वीरविमलशाहका चंद्रावतीपर अधिकार और गुजरातमें-पोरवालोंकी प्रभुता
५ भगवती सूत्रका हिन्दी भाषान्तर
६ विद्याचन्द्र और सुमति

जो हमने ऊपर नये प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंका उल्लेख किया है उसमेंसे जिस ग्रन्थके छपानेको हमे पहिले सहायता मिलेगी वही ग्रन्थ पहिले प्रकाशित होगा।

इस समय निम्न लिखित पुरुष समितिका कार्य कर रहे हैं-

ताराचंद्रजी दोसी-सम्पादक।

प्रभूतमलजी पी० सिंघी—सहकारी सम्पादक और सेक्रेटरी
भीमराजजी चौधरी—सहकारी सेक्रेटरी

पंडितवर्य्य मुनिराज हरिसागरजी महाराजके उपदेशानुसार हिन्दी विनय ग्रन्थ मालाका पहिला पुष्प प्रकाशित करनेको व जैन समाजके ग्राहकोंको यह पुस्तक भेट देनेके लिये श्रीमान् शेठ जेठालालजी कुशलचन्द्रजी जामनगरवालोंने इस पूरे ग्रन्थको छपानेके लिये जो सहायता दी है, अतएव यह समिति शेठश्रीको धन्यवाद देती है और भविष्यमें ऐसे उपयोगी कार्योंमें सहायता देनेके लिये सदा अनुरोध करती है हमारे उत्साही मित्र मेसर्स मेघजी हीरजी जो साहित्यके प्रेमी हैं और इसी उद्देशसे ये पुस्तक संचालकका कार्य करते हैं और इस पुस्तकको गुजरातीमें इन्होंने ही प्रकाशित की है अलावा इसके इसका हिन्दी अनुवाद करनेको इन्होंने हमें आज्ञा दी है अतएव यह समिति उनको धन्यवाद देती है ।

प्रकाशक—सेक्रेटरी हिन्दी संवर्द्धिनी समिति ।

प्रभुके अवतर-णका महत्व।

महावीरप्रभुके अवतरणका महत्त्व किस बातमें समाया हुआ है। अथवा किस देशमें उनका जन्म हुआ, था? अपना कल्याण साधनेके लिये किन २ विघ्नोंके सामने उन्हें होना पड़ा था? हम उनपर प्रसंगोपात दृष्टि डालते हैं। इस विश्वपर देवी और जगत् उधारक तनुओंके प्रादुर्भावमें प्रवर्त्तित अनेक निमित्तोंका अवलोकन करनेसे मालूम होता है। कि जब समाज अथवा प्रजाका एक सत्ताधारी विभाग अपने स्थूल स्वार्थका रक्षण करनेके लिये असत्य और अधर्मका पक्ष लेकर अपनेसे अन्य शक्तिमान विभागको सत्यसे वंचित रखता है तब आक्रमित और पराजीत सत्यकी भस्ममेंसे एक ऐसा दिव्य स्फुलींग प्रकट होता है कि जिसकी प्रखर ज्वालामें आखिरकार अधर्म और अनीतिका नाश होजाता है और ऐसा होनेसे ही इस दिव्य स्फुलींगमें—इस दिव्यके विभूतिके प्रादुर्भावमें जितना नीतिका नहीं उतना अनीति और जितना धर्मका नहीं उतना ही अधर्मका हिस्सा होता है। पराभव प्राप्त सत्यको उसके मूळ गौरव युक्त स्थानपर प्रतिष्ठित करनेके लिये महापुरुषोंका जन्म होता है। देवी और आसुरी सत्वोंके विग्रहमें जब आसुरी तत्त्व अपने उच्चतम स्थूल बलके प्रभावसे देवी

सत्यको दबा देता है और अपने अधर्म शासनको प्रवर्तित करता है तब उसके प्रति शासकके तौरपर दैवी सत्ताका पक्ष लेकर असत्यका निकंदन करनेके लिये प्रकृतिके गर्भागारमेंसे एक अमोघ वीर्यवान आत्मा जन्म लेता है और इस महावीरके जन्म लेनेका हेतु जगतकी सर्व देशीय प्रकृतिके अवरोधक कारणोंको दूर करनेके लिये ही होता है। महत्ता यह अकेला सामर्थ्यको लेकर नहीं आती है परन्तु वह विघ्नोंका परिहार करनेमें सामर्थ्यका उपयोग करती है और वह इतने प्रबल अंतराय और सामर्थ्योंके सामने लड़नेमें उतने ही प्रमाणमें काममें आती है जितने प्रमाणमें जो २ महान् पुरुष महत्ता प्राप्त करके चले गये हैं वह मात्र उनके अन्तर्गत सामर्थ्यके प्रभावसे ही नहीं परन्तु उस सामर्थ्यको अधर्मके सामने रोककर आखिर अधर्मको परास्त करनेसे ही उन्हें प्राप्त होचुकी है। जो सामर्थ्य कार्य शून्य है उसकी जगतको कुछ खबर नहीं पड़ती। कहनेका आशय इतना ही है कि महापुरुषोंके महत्त्वका उपादान "अधर्म अथवा असत्यके सामने लड़नेमें अपने स्वार्थके लिये कृत उपयोग ही है। वस्तुतःइन महानआत्माओंको आकर्षित करनेवाला अधर्म नहीं है परन्तु जब अधर्मका प्राबल्य सत्यस्वरूपको गुंगला कर देता है तब उस समय दुःखार्त्त सत्वका अन्तःपुकार उन परमात्माओंके पास पहुँचता है। महाजनोंका सच्चा महत्व तो अधर्म अपत्य और अनीतिको ही आभारी है। रामकी महत्ता रावणके अधर्मसे ही बंधी हुई है। कृष्णका ऐश्वर्य कौरवोंकी अनीतिसे जगत्को मालुम हुआ है। इसी तरह प्रवृत्तिके प्रत्येक क्षेत्रमें जिन पुरुषोंने जो कुछ महत्ता

प्राप्त की है उन क्षेत्रोंमेंके नीच सत्वोंका पराजय करनेसे ही प्राप्त की है। महत्ताके महावीरताकी बातको दृष्टिमें रखकर हमें जानना चाहिये कि महावीर प्रभुका महत्व किस बातमें है उसीको अवलोकन करनेका प्रसङ्ग प्रस्तुत पुस्तकमें लिया गया है।

**आवश्यक और उपकारक तत्व-की प्रतिष्ठा।**

अब महावीर प्रभु कौनसे असत्य और कौनसी अनीतिके सामने लड़े थे और जगतमें कौनसे आवश्यक और उपयोगी तत्व दाखिल किये थे उनको हमें देख लेने चाहिये? २५०० वर्ष पहिले आर्यावर्त्तकी महान् धर्म भावनामें परिवर्त्तन शुरू हो गया था। उपनिषद् और गीताके विशुद्ध तत्व लुप्त प्रायः हो गये थे और उनका स्थान मात्र अर्थहीन आचार, हेतुशून्य विधि और हृदय उद्वेगकारी क्रियायोंने लिया था परमार्थिक रहस्यकी कुछ भी विस्मृति नहीं हुई थी। देव और देवियोंकी संख्या इतनी शीघ्रतासे बढ़ने लगी कि सर्वको संतुष्ट रखनेके महान् बोजेसे मनुष्यको अपना आत्म कल्याण करनेका अवकाश ही नहीं मिलता था। ब्राह्मण जिस गौरवको, जिस समाजको और जिस महत्वको अपने गुण कार्यके प्रभावसे ही मानते थे उनको परम्परा हक्कके तौरपर मानने लगे। ज्ञातियोंकी मर्यादा बहुत तङ्ग हो गई थी और स्थूल कीमतके बदलेमें ब्राह्मण लोग पारमार्थिक श्रयकी लालच देकर लोगोके बजाय क्रियाकांडमें अपने आप ही प्रवर्त्तित होते थे समाजकी श्रद्धा अधम रास्ते पर घसड़ी जाती थी और उसका अघटित लाभ उस समयके ब्राह्मण लेने लगे। धर्म भावनाका जीवन लुप्त होकर मात्र संप्रदायकी तंगी और क्रियाकांडकी

जड़ अवशेष रह गई थी। प्रभु महावीरके कालसे करीब ६०० वर्षपर करीब २ ऐसी ही वस्तुस्थिति थी। प्रभुकी विद्यमानतामें खेद युक्त यज्ञ यज्ञादि पूरे जोशसे चलते थे तो भी सौभाग्यका विषय यह था कि उस समयमें कितनेक समझदार ऋषि इन क्रियाओंको तुच्छ और स्पष्ट तौरपर देख सकते थे। इसलिये क्रियाकांडकी निरुपयोगिता उन्होंने समाजको समझा दी थी और उपनिषदोंकी रचना पर उनके रहस्य तरफ उनका लक्ष खिचा था। असंख्य छोटे बड़े देवोंको निकालकर उनका स्थान समस्त निसर्गके महाराज्यको देनेमें आया था जो एक परम तत्वसे व्याप्त था। वरुण, अग्नि, सूर्य आदि अनेक सत्वोंको प्रसन्न रखने पड़ते थे कारण कि वे व्यवहारमें दखल न करें। इसलिये यज्ञादिसे संतोष करनेका प्रचार परब्रह्मकी विशुद्ध भावनाके बलसे गौणताको प्राप्त हो चुका था और इससे ब्राह्मणोंकी वृतिके स्वार्थी अंशको आघात पहुँच चुका था। और इससे उल्टा उपनिषद्के रहस्योंसे समाजके बुद्धिमान और प्रगतिशील विभागपर उत्तम असर हुआ था जिससे बहुत समय तक यज्ञादिक क्रियाकांडका जोर प्रवर्तित नहीं रह सका। समाजका लक्ष प्राकृतिक सत्वोंको खास करके संतुष्ट रखनेसे पर लौकिक जीवन और आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत आवेगपूर्वक आकर्षित हो चुका था तो भी यह स्थिति बहुत समय तक टिक नहीं सकी। करीब ३०० सौ चारसौ वर्ष उसका असर न्यूनाधिक रहा परन्तु महावीर देवके आर्विभाव कालमें पूरे सत्व फिर शतागें जोरसे आ गये लोगोंकी रुचि तात्विक विभागपरसे कम हो गई। धर्मगुरू रिश्वत लेकर स्वर्ग और मोक्ष तकका पटा देनेकी धृष्टता

करने लगे। शास्त्राभ्यास अथवा स्वतंत्र विचारके लिये, ब्राह्मणोंके सिवाय किसीको अधिकार नहीं था। यज्ञादिक कर्मके अधिकारके लिये ब्राह्मणों, क्षत्रिय और वैश्योंके बीचमें बहुत लड़ाई हुआ करती थी। आचार विचारके नियामक सूत्रोंमेंसे अर्थ उड़ा दिये गये थे और खाली शब्दही नामावशेष रह गया था। समयके बदलनेके साथ आचार भी बदल गये और आचार कांड बदबूदार पानीके नालेके जैसा हो गया। आत्मा गये पश्चात् शेष रहे हुए पींजरके समान स्थिति प्रत्येक स्थान पर थी मतलब यह है कि उन्नतिशील और प्रगतिशीलके चक्र पुराने विचारके कीचड़में इतने गहरे चले गये थे कि उनको सड़कपर चलती स्थितिमें रखनेके लिये एक वीर आत्माके अवतरणकी चारों ओर आशा युक्त राह देखी जाती थी।

महावीर प्रभुके आविर्भाव कालमें जैसी स्थिति थी उसका वर्णन मी० दत्त इस तरह देते हैं:—

Such was the state of things in India, in the sixth century before Christ Religion in its true sense had been replaced by forms. Excellent social and moral rules were disfigured by the unhealthy distinctions of caste, by exclusive previledges for Brahmins, by cruel laws for Sudras. Such exclusive caste previledges did not help to improve the Brahmans themselves. As a community they became grasping and covetous, ignorant and pretentious until Brahman Sutrakaras themselves had to censure the abuse in the strongest terms. For the

Sudras, who had come under the shelter of the Aryan religion, there was no religious instruction, no religious observance, no social respect. Despised and degraded in the community in which they lived, they sighed for a change and the invidious distinction became unbearable as they increased in number, pursued various useful industries, owned lands and villages and gained in influence and power. Thus society, was held in cast-iron moved which it had long out grown; and the social, religious and legal ltterature of the day still proclaimed and upheld the cruel injustice against the Sudra, long after the Sudra had become civilized and industrious, and a worthy member of society.

अर्थात्—२९०० वर्ष पहिले आर्यवर्त्तकी स्थिति ऐसी थी कि धर्मकी यथार्थ भावनाका नाश होचुका था और उसका स्थान अर्थ-हीन आचार विचारने ले रखा था। उत्तम समाजिक और नैतिक नियम, दुष्ट ज्ञाति भेदसे और ब्राह्मणोंके लिये खास हक और शुद्रोके लिये घातकी धाराओंसे विक्षत थे ऐसे ज्ञातिजन्य विशेष अधिकारसे उल्टी ब्राह्मणोंकी स्थिति बिगड़ने लगी। सारे समाज पर वे इतने लोभी और लालची अज्ञान और अभिमानी बन गये कि ब्राह्मण सूत्रकारोंको भी इस वस्तुस्थितिको बहुत सख्त भाषामें दर्शाना पड़ा था। शुद्रों जिन्होंने कि आर्यधर्मकी छत्रछायाके नीचे आश्रय लिया था उनके लिये धार्मिक शिक्षण और व्रत

क्रियाका निषेध था। सामाजिक सन्मान उनके लिये बिल्कुल नहीं था। जिस समाजमें वे बसते थे उसमें उनकी तरफसे तिरस्कार और धिक्कार उत्तरोत्तर प्राप्त होने पर वे कुछ परिवर्त्तनके लिये आतुरतासे राह देखते थे। ज्यों २ उनकी संख्या बढ़ने लगी। उपयोगी हुन्नर उद्योगमें वे प्रविष्ट होते गये, जमीन और गांवोंके मालिक बनते गये और अपना प्रभाव और सत्ता विस्तारित करने लगे। त्यों २ ऐसी द्वेष युक्त ज्ञाति भिन्नता उनको असह्य मालूम होती गई। इसतरह समाज वज्र तुल्य खोखेमें गोते खा रहा था। शूद्र सभ्यता और उद्योगमें आगे बढ़ते जाते थे और समाजमें सभ्यके लायके थे परन्तु उस समयका समाजिक, धार्मिके और कायदा सम्बन्धी साहित्य उनके प्रति अधम और अन्याय ही वर्त्त रहा था।

उन्नतिके इन अवरोधक कारणोंको दूर करनेके लिये एक प्रबल शक्तिमान वीर आत्माके प्रादुर्भावकी जरूरत थी। बहुत समयसे एकत्रित मेलेके ढेरको झाड़े विना समाज जरा भी आगे नहीं बढ़ सकता था। जीवनके आर्थिक अंशोको मूर्च्छावस्थामेंसे वापिस चेतन करनेके लिये एक जीवनप्रद अमीह प्रवाहकी आवश्यक्ता थी उस समय जीवन व्यवहार बिलकुल प्राकृत कोटीका होगया था और लोगोके हृदयबल ठंडे होगये थे अतएव पारमार्थिक वेग शिथिल होचुका था। क्रिया रूढ़ी और अर्थहीन मंतव्योके प्राबल्यसे सामाजिक जीवनमें एकमार्गीयत्व व्याप्त होगया था। लोग हृदयकी मुर्झाइ हुई उच्च वृत्तियोको पुनः प्रफुल्लित करनेके लिये वृष्टीकी राह आतुरतापूर्वक देखी जाती थी। धर्मभावनाके नाशके साथ प्रजाजीवनकी समस्त भावनाओंको आघात पहुंचा था। इन सब

अंतरायोंको तोड़नेके लिये एक विशिष्ट शक्तिका परिस्फोटन होना जरूरी था।

इस विकट विषयमें साहित्य सम्राट् डॉ. रवींद्रनाथ टागोर कहते हैं:— "Mahavir proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community,—that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्—महावीरने डींडीम् नादसे हिन्दमें ऐसा संदेश फैलाया कि धर्म यह मात्र सामाजिक रूढी नहीं परन्तु वास्तविक सत्य है। मोक्ष यह बाहिरी क्रियाकांड पालनेसे नहीं मिलता परन्तु सत्य धर्म स्वरूपमें आश्रय लेनेसे ही प्राप्त होता है और धर्ममें मनुष्य और मनुष्यमें कोई स्थायी भेद नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य पैदा होता है कि इस शिक्षणने समाजके हृदयमें जड़ करके बैठी हुई भावनारूपी विघ्नोंको त्वरासे भेद दिये और देशको वशीभूत कर लिया इसके पश्चात् बहुत समय तक इन क्षत्रीय उपदेशकोंके प्रभावबलसे ब्राह्मणोंकी सत्ता अभिभूत होगई थी।

प्रभुने देशकी सादी भाषामें ही देशना दी और सत्यके प्रभावको सहजमें ही जनहृदयमें अंकित किया और आत्मधर्मके स्वरूपको उसके गौरव स्थानपर प्रतिष्ठीत किया लोगोंको बहुत समयके मोह निद्रामेंसे जगाये। प्रभु यह अच्छी तरहसे जानते थे कि समाजपर सच्ची असर ब्राह्मणोद्वारा ही हो सकेगी कारण कि उस जमानेमें उनका जोर प्रबल था इससे उन्होंने अपने प्रभावका प्रथम उपयोग उस समयके मुख्य और विद्वान ब्राह्मणोंको अपने पक्षमें लेनेके लिये किया। जैन ग्रन्थोंमें इन्द्रभूति अग्निभूति आदि सुविख्यात अगीयारे ब्राह्मणोने प्रभुके आगे दीक्षा लेनेके जो हकीकत अस्तव्यस्त आकारमें आजतक मौजूद है वह इसी बातका समर्थन करती है कि प्रभुने सबसे प्रथम उन ब्राह्मणोंको अपने पक्षमें लेनेका उद्योग किया कि जिनके द्वारा समाजकी प्रगति अवरोधक हुई थी। प्रभुके अगीयारो गणधर पहिले क्रियाकांडी ब्राह्मण थे और प्रभुके उपदेशसे अनुरंजित होकर अपने शिष्य समुदाय सहित वे प्रभुके शरणमें आगये।

उसके बाद बहुत समय तक प्रभुद्वारा प्रवर्त्तित शासन विजयवंत रहा। उन्होंने मुक्तिका अधिकार मनुष्य मात्रके लिये बरोबर हक्कसे स्थापित किया। पुरुषों और स्त्रियोंके लिये सुमर्यादित सुघटित और उत्तम व्यवस्था पुरसर मठोकी स्थापना की और लोगोंमें राग द्वेष स्वच्छन्दसे न हो सके उसके लिये विकट आचार मार्गकी घटनाएं घटित की थी।

प्रभुके उपदेश स्वरूपकी मिमांसामें उतरना हमने योग्य नहीं समझा तो भी हमे यह कहना पड़ेगा कि उस समयमें उन्होंने दो

बातोंपर अधिक भार दिया जिनका असर समाजपर दृढ़तासे विस्तारित हो गया (१) प्राणी मात्रको जीनेका एक बरोबर हक्क है इसलिये जीवको जीने दो ( Live and Let Live ) का सिद्धान्त और स्वके कल्याणके लिये कोई दूसरी बाहिरी शक्तिपर अथवा उसके प्रसाद ( favour ) पर आधार तथा अपेक्षाको न रखते स्वशक्तिके अवलम्बन करनेका सिद्धान्त। उस युगमें इन दो सत्योंके प्रकाशकी अत्यन्त आवश्यक्ता थी जो कि ये सत्य बिल्कुल सादे हैं और एक बालकसे भी अज्ञात नहीं है और सबको विदित हैं तो भी जब उन सद्भावनाओंका लोप होनेवाला होता है तब सम्पूर्ण देश अथवा सम्पूर्ण जगत्को अक्सर उसका एक साथ विस्मरण हो जाता है और अथवा वह दूसरी विरोधी भावनाओंकी सत्तासे दब जाता है उस समय भी ऐसा हाल हुआ था। लोगोंने आत्मकल्याणके मुख्य निश्चयकी अवगणना की थी। लोग स्वहित साधनेके लिये छोटेसे बड़े असंख्य देवदेवियोंको संतुष्ट रखनेके लिये प्राणीहिंसायुक्त यज्ञ यगादिकोंके भ्रमजालमें पड़ गये थे। इस हिंसा प्रधान धर्मके नामसे चलती क्रियाओंके सामने महावीर प्रभुने सख्त विरोध किया और जीवदयाका सिद्धान्त फैलाया जिसके लिये अनन्त मूगे प्राणी अपने मूक वाणीमें आज भी उन प्रभुका उपकार गाते हैं।

## अनुवादककी भूमिका।

यह प्रस्तुत पुस्तक गुजराती भाषाके प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत् सुशीलकृत महावीर जीवन विस्तारका स्वतंत्र हिन्दी अनुवाद है और इनसे हमारे समाजका प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। आपकी जन्मभूमि काठीयावाड़में है और आप गुजराती भाषाके अच्छे लेखक हैं आपने कई पुस्तकें गुजरातीमें लिखी हैं।

यह पुस्तक अच्छी शैलीसे लिखी गई है और प्रभुके जीवनकी हरएक घटना पर सारगर्भित विवेचन किया गया है इतना ही नहीं परन्तु सर्व घटनाओंके मर्मको साफ दिखा दिया है। इसमें जो विषय और घटनाएं ली गई है वे उत्तमतासे प्रदर्शित की गई हैं कि पढ़ते समय उस घटनाका चित्रसा सामने खड़ा हो जाता है। यह असंभव है कि प्रभुके कष्टोंके वर्णनको पढ़कर पढ़नेवालोंके नेत्रोसे अश्रुजलकी धारा न बह निकले। इसके पढ़नेसे पाषाण हृदय भी पीगलकर मोमसा हो जायगा।

इस परसे पाठकगण अनुमान कर सकते हैं कि ऐसी उत्तम पुस्तकको हिन्दी भाषामें प्रकाशित करनेकी कितनी आवश्यकता थी। इस आवश्यक्ताकी पूर्तिके अर्थ मैंने इसका हिन्दी अनुवाद तैयार किया है। यदि हिन्दी और हिन्दी भाषाभाषी मनुष्योंकी इस पुस्तकसे कुछ लाभ पहुँचा तो मैं अपने श्रमको सफल समझूँगा।

आबूरोड<br>
ता० १९-६-१८ } ताराचंद्र दोसी।

# अर्पण पत्रिका।
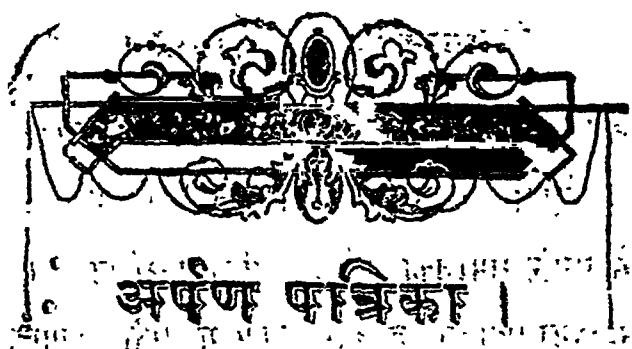
## पूज्यपाद श्रीमद् गणाधीश्वर त्रिलोक्यसागरजी महाराज।

आपश्रीने हिन्दी साहित्यकी जो सेवा की है। और वर्षों तक मरुधर देशमें विहार करके आपश्रीने जैन हिन्दी साहित्यको उन्नतदशापर लानेके लिये अनेक प्रयास किये थे। इतना ही नहीं परन्तु आप स्वयम् उपदेश भी हिन्दीमें ही देते थे। अलावा इसके आप अनेक तकलिफोंको सहन करके मरुधर देशका उद्धार करनेके लिये इसी देशमें सतत् विहार करते थे। यद्यपि इस समय आपश्री द्रव्यरूपसे इस संसारमें विद्यमान नहीं है परन्तु भावरूपसे आपश्री मरुधर देशवासियोंके हृदयमें विद्यमान रहेंगे। इन्हीं गुणोंसे आकर्षित होकर 'महावीर जीवन विस्तार' नामक पुस्तक आपश्रीके करकमलोमें समर्पण करते हैं।

चरणोपासक—

कार्यकर्त्तागण हिन्दी संवर्द्धिनी समिति

और

श्री ज्ञानप्रसारकमंडल, सिरोही।

महावीर जीवन विस्तार.
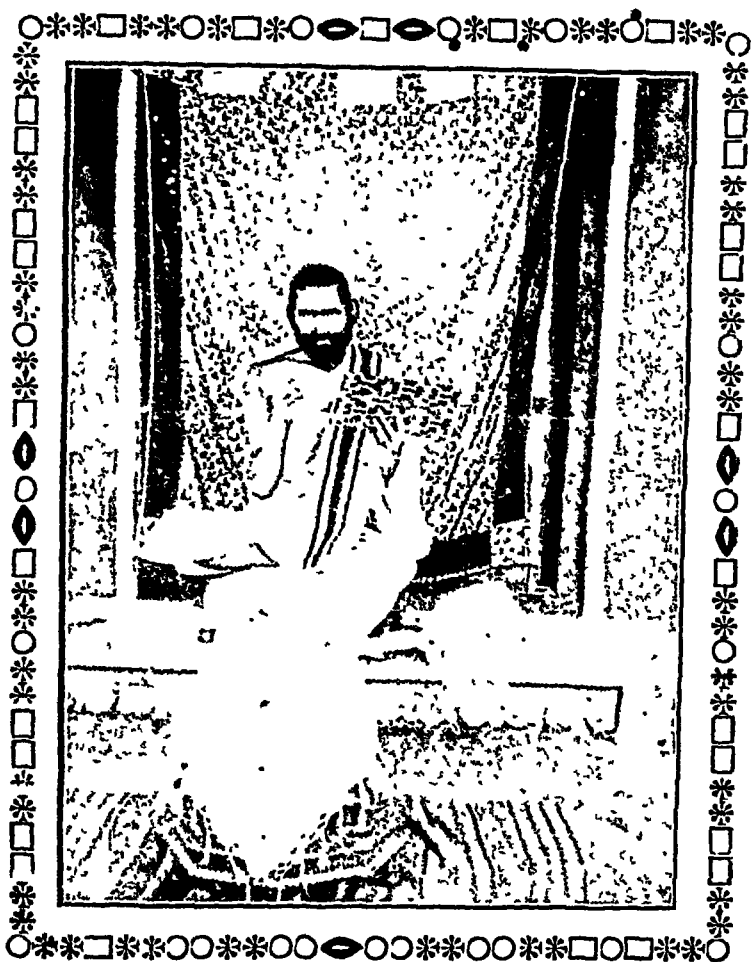
पूज्यपाद श्रीमद् गणाधीश्वर त्रिलोक्यसागरजी
महाराज ।

जन्म वि० १९५८ } जैसलमेर

{ मृत्यु वि० १९७४ { लोहावट मारवार.

'जैन विजय' प्रेस सूरत, ।

# श्रीमहावीर जीवन-विस्तार।

इस शासन चक्रके कि जिसने महायोगीके योग सामर्थ्यकी प्रारम्भिक प्रेरणाओंसे अपनी गति प्राप्त की है; जो चौबीस-सौ वर्षसे बराबर अनेक भाग्यशाली जीवोंके उद्धारका निमित्त हुआ है; और जो अनेक जीवोंको श्रद्धा, शान्ति और आश्वासन दिला रहा है और भविष्यमें भी अपनी गतिके अवशेष वेग तक अनेक जीवोंको परम पद मार्ग प्रदर्शन कराता रहेगा उसके आद्य द्रष्टा परमयोगी सिद्धार्थकुल मुकुट श्री महावीर प्रभुको इस कार्यके आ-रंभमें त्रिकरण योगसे साष्टांग प्रणति परंपरा समर्पण करता हूँ।

प्रायः देखा गया है कि महापुरुषोंके जन्मके सम्बन्धमें उनके अनुयायी लोग पीछेसे कई अश्रद्धेय बातें मिला देते हैं। जिसस क्राइस्ट, कृष्ण, महावीर इत्यादि धर्म प्रवर्त्तकोंके जन्मकी बातोंके आसपास उनके भक्तोंने श्रद्धाके वशीभूत होकर एक ऐसा अद्भुत वातावरण खड़ा कर दिया है कि जिसको यह बुद्धिवादका जमाना कभी सत्य माननेको तैयार नहीं है। जिसके लिये लिखा है कि वह मेरी नामकी कुंवारी लड़कीके पेटसे पैदा हुआ था। जन्मके साथ कृष्णका शरीर दैवी सहायसे ऐसे स्थानमें पहुँचा दिया गया था, कि जहां पक्षीका प्रवेश भी असंभव था। इसी तरह महावीर स्वामीके सम्बन्धमें भी शास्त्रोंमें लिखा है कि, देवानंदा ब्राह्मणीके उदरमेंसे महावीरके गर्भ-शरीरको हरिणगमेषी नामक देवताके द्वारा हरण करवाकर सौधर्मेन्द्रने इक्ष्वाकुवंशी सिद्धार्थ राजाकी

पट्टराणी त्रिशलादेवीके गर्भमें और त्रिशलादेवीके गर्भको देवानंदाके गर्भमें स्थापन करवाया था।

ऐसे अलौकिक व्यतिकरोंको सिद्ध करनेका प्रत्यन करना, अथवा विज्ञानिक युगमें यह कहनेकी हिम्मत करना कि ऐसा हो सकता है, बुद्धिमानीका कार्य नहीं है। जिस बातको मनुष्यकी बुद्धि असंभव और संभवनीयताके प्रदेशसे बाहिर गिनती है, उस बातको केवल श्रद्धा और शास्त्रोंके वाक्योंपर आधार रखकर दूसरेके मगजमें जबर्दस्ती ठसानेका प्रयत्न करना बिलकुल अनुचित है। तथापि जो लोग असामान्य और दैवी सत्ताके कार्योंमें श्रद्धा रखते हैं; वे भी उक्त गर्भान्तरकी घटनासे एक महत्त्वकी बात सीख सकते हैं। और वह यह है कि महावीर प्रभुके जीवने मरीचिके जन्ममें कुलाभिमान किया था। इसलिये उन्हें भिक्षुकके घर गर्भमें आकर रहना पड़ा था। जबसे मद, अहमन्यता, अभिमान आदि किसी भी मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होने लगते हैं तब हीसे उस मनुष्यकी आत्मा अपने उच्च स्थानसे गिरकर निकृष्ट स्थितिमें पहुँचनेके साधन उपार्जन करने लग जाती है। कार्यके साथ उसका फल प्रयत्नके साथ उसका परिणाम आघातके साथ उसका प्रत्याघात और भावनाके साथ उसका बदला सदा लगे ही रहते हैं। आत्मा गर्वोन्मत्त हो अपनेसे निकृष्ट स्थितिका तिरस्कार करती है क्योंकि गर्भके साथ हमेशा तिरस्कार रहता है उसका तिरस्कार ही तबसे तिरस्कृत्य स्थितिमें लेजानेका कारण बन जाता है। जिन स्थितियोंको पार करके मनुष्य आगे बढ़ा है, उन स्थितियोंसे घृणा करना सर्वथा अनुचित है इसी तरह जिन उच्च स्थितियोंका वह स्वयम् भोक्ता है, उनसे

मत्त होजाना भी उसके अयोग्य है। घमंडी मनुष्य कभी उन्नतिके मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि वह अपनी वर्त्तमान स्थितिमें ही संतुष्ट रहता है और अपनेसे निम्न स्थितिवालोंके प्रति वह द्वेष और घृणाके भाव पोषण करता है। इसका कारण यह है कि वह इन्हीं निम्न स्थितियोंमें स्वयम्‌की कल्पनाकर बड़े दुःख और असंमजसका अनुभव करता है। इस प्रकार अहंकारी मनुष्य तिल मात्र भी आगे नहीं बढ़ता, इतना ही नहीं परन्तु कर्मकी जबर्दस्त सत्ता उसको अपने असली स्थानसे ढकेलकर उसी तिरस्कृत्य स्थितिमें ला पटकती है। महावीर प्रभुके विषयमें भी ऐसा ही हुआ था। " तीर्थङ्कर " के समान अत्यन्त प्रभावशाली नाम कर्मकी प्रकृतिका बंध करने पर भी अभिमानका फल कर्म फलदात्री सत्ता उन्हें दिये बिना नहीं रही इसहीसे पहिले उनका एक दरिद्री-कुटुम्बकी ब्राह्मणीके गर्भमें च्यवन हुआ था। अहंकार बड़ेसे बड़े महात्माओंको कैसे फल चखाता है उसका यह एक ज्वलंत तथा सुबोधमय उदाहरण है।

प्रभुका जन्म हुआ। जन्म कल्याणकका उत्सव मनानेके लिये सौधर्मेन्द्र प्रभुको मेरु पर्वत पर लेगया। अन्य त्रेसठ इन्द्र भी उनको स्नान करानेके लिये वहां उपस्थित हुए थे। जिस समय तीर्थके सुगंधित जलसे प्रभुका अभिषेक करनेकी तैयारी हो रही थी। उस समय सौधर्मेन्द्रको शंका हुई कि प्रभुका बाल-शरीर जलकी इन विपुल धाराओंके प्रभावको कैसे सह सकेगा। अव्याबाध इन्द्रिय सुखका भोक्ता इन्द्र उस समय शक्तिके वास्त-विक प्रभवस्थानको भूल गया। उसको उस समय केवल यही

विचार आया कि शक्तिका अवलम्ब मात्र हाड, मांस और चर्म ही है। जिन आत्माओंको केवल स्थूल सृष्टिका ही सतत परिचय है और जिनका अन्य भूमियोंसे—सूक्ष्म स्थितियोंसे—कोई सम्बन्ध नहीं है उनको ऐसी शङ्काएँ उत्पन्न हो यह एक स्वाभाविक बात है। यद्यपि इन्द्र अवधिज्ञानके द्वारा प्रभुके अतुल सामर्थ्यको भली भांति जानता था; परन्तु भक्ति—बाहुल्य—मुग्ध इन्द्र उस समय सब कुछ भूल गया, और उसके हृदयमें उक्त शङ्का उत्पन्न हुई। नित्यके समागमकी और प्रतिक्षण दृष्टिपथमें आनेवाले अनुभवकी शक्ति इतनी प्रबल होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाणमें उद्भवित श्रद्धाको भी क्षणभरके लिये भुला देती है।

प्रभुने अपने ज्ञानशक्तिसे इन्द्रके उक्त हृदय भावोंको देखे; उसे अपने अद्भुत सामर्थ्यका भान करानेके लिये अपने बायें पैरके अंगूठेसे मेरु गिरिको दबाया। तत्काल ही मेरुशिखर हिलने लगे। वसुधरा भार झेलनेको असमर्थ हो इस प्रकार काँपने लगी और चारोतरफ एक उत्पात सा मच गया। प्रभुने अपने आत्मस्थितिसे एक अंशको स्फुटित करके इन्द्रको समझा दिया कि सामर्थ्यका आधार हाड़ माँसकी थैली नहीं है, बल्कि अन्तरात्मा है। जिसकी दृष्टि मर्यादा स्थूल शरीरमें ही परिसमाप्त होती है। प्राकृत मति आत्माके इस स्वभावको कैसे समझ सकती है विकास क्रमके उच्चतम शिखरपर पहुँचे हुए आत्माका नैसर्गिक सामर्थ्य कैसा अद्भुत होता है, उसका उदाहरण प्रभुने अपने जन्मके बाद ही इसतरहसे बता दिया। प्रभुका यह कार्य अपनी शक्तिसे दूसरोंको अजित करनेके लिये नहीं था; प्रत्युत लोगोंको आत्माकी अद्भुत शक्तिका

मान करानेके लिये तया यह दिखानेके लिये था कि प्रत्येक आत्मामें ऐमी ही अलौकिक शक्ति है । सामान्य जीवोंको स्थूलोद्भवित शक्तिके सिवाय अन्य शक्तिमें श्रद्धा नहीं होती है, और इसलिये प्रसंगपर महात्माओंको आत्मशक्तिका प्रभाव दिखाना पड़ता है और इसके अनेक उदाहरण भी मौजूद हैं। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि महात्मा कृष्णने अपनी एक अंगुली पर गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया था। । आत्माकी शक्तिके अनंतपनेमें जिसको श्रद्धा है वे ऐसे व्यतिकरोंको कभी असंभव नहीं मानेंगे। इस कालमें भी आत्मशक्तिके अनेक प्रभावोत्पादक घटनाएँ घटित हुई हैं जिनसे पाठक परिचित होंगे ।

पुण्यशाली आत्माके प्रादुर्भूत होने पर सर्वत्र आनंद मङ्गल ही दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार प्रभुके जन्मके बाद सिद्धार्थकी समृद्धिमें असाधारण वृद्धि होने लगी। प्रभुके पुण्य प्रभावसे नगरमें, देशमें, और हर घरमें प्रसन्नताका प्रचार हो गया। प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे आनंदके फुव्वारे छूटने लगे । प्रभुके पुनीत पदारविन्दसे इस प्रकार सर्वत्र सुख समृद्धिकी वृद्धि हुई इसलिये उनका वर्द्धमान नाम रक्खा गया। भगवानकी बाल्य लीला भी बहुत ही बोधदायक थी। उनकी आत्माका जो प्रभाव भाविमें अनेक प्राणियोंको कल्याण करनेके लिये निर्मित हुआ था वह प्रभाव उनके क्रीड़ा कालमें भी दिखाई देता था।

मातापिताके स्नेहसुधासे पालित पोषित हो कर क्रमशः ! प्रभुने यौवनावस्था प्राप्त की। प्रभुके बाल्य कालसे तबतक की कई चमत्कारिक घटनाओंके द्वारा मातापिताको जो सुलभ प्रेम

भावना होती है, उसीसे आकर्षित होकर उन्होंने प्रभुके विवाहका प्रबन्ध करना प्रारंभ किया। यौवनावस्था, धन-धान्यकी विपुलता, यथेच्छा भोग प्राप्तिकी सुलभता और उत्कृष्ट रूप तथा प्रभुत्व आदि और विपर्यविकारोत्पत्ति आदिकी सामग्रियोंके होते हुए भी भाग्यशाली वीरके हृदयमें विकारका स्पर्श मात्र भी नहीं हुआ था। उनके एक२ रोममें भोग भोगनेकी वासना अवशेष नहीं रही थी। परन्तु पुत्र-वत्सल माताका जो कि प्रभुको विवाहितकर अपनी स्नेह तृप्ति करनेको बड़ी आतुर थी-प्रभुने कुछ विरोध नहीं किया। विरोध करके अपने मातापिताके स्नेही हृदयको दुःखाना उन्होंने अनुचित समझा। यह सोचकर प्रभुने माताके वचनोंको सहर्ष स्वीकार किया। तीर्थङ्करोंका हरएक कार्य आदर्श उदाहरण स्वरूप होता है और यदि मैं मातृ आज्ञाकी अवहेलना करूँगा तो उक्त नियमका भंग होगा। देवीने प्रभुसे कहा " नंदन तुम हमारे आंगनमें आये हो इससे हम अपने भाग्यको सराहते हैं, तुम्हारा हमारे यहाँ अवतीर्ण होना हम हमारे पूर्व भवके महान् पुण्यका विपाक समझते हैं जिनके दर्शनोंकी इन्द्रादि देवताओंको भी सतत इच्छा रहती है ऐसे तुम हमारे यहांपर उत्पन्न हुए, यह सौभाग्य हमारा सचमुच ही अद्वितीय है। हम जानते हैं कि आपका निर्माण तीनों लोकोंको स्वातंत्र और मोक्षादिका मार्ग दिखानेके लिये हुआ है और आपका यह निवास तो मात्र हमें अपनी क्रीड़ा दिखानेके लिये ही है। तथापि हमारी स्नेहार्द्र हृदय पुत्र प्राप्तिकी भावनाका परित्याग करनेमें असमर्थ है। अतः अन्य किसी हेतुके लिये नहीं परन्तु हमें प्रसन्न रखनेके लिये ही हमारे विवाहके

आग्रहको स्वीकार करो।" दयामय प्रभुने माताकी इस स्नेह भावनाको मान देकर विवाह करनेकी हामी भरी। देवीने प्रसन्न होकर यशोदा नामकी राजपुत्रीके साथ उनका विवाह कर दिया। माता पिताको इस जोड़ेके दर्शनसे परम संतोप हुआ यद्यपि शरीरसे प्रभु गृहस्थी एवं संसारी थे परन्तु उनका हृदय सदा जंगलकी ओर रहता था। उदासीन और अरस्थ भावसे वे उदयमान भोगका निर्वहन करते थे। जिन महात्माओंका हृदय भोग और योग इन दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ रह सकता है उनका वैराग्य संसारके प्रति द्वेपसे अथवा निराशासे उद्भवित नहीं होता। परन्तु वह स्थितिके यथार्थ दर्शनमेंसे उत्पन्न होता है व इस संसारमें (वस्तु) जल कमलवत् अलिप्त भावसे रहते हैं। उदयमान कर्म प्रकृतियोंके भोगोंको शान्तिसे सहन कर उनकी निर्जरा करना और रागद्वेपके उत्तेजक कारणोंसे परिवेष्ठित रहने पर भी स्थित प्रज्ञ रहना ऐसे ही महात्माओंके कठिन वृत होते हैं। प्रभु भी अपने लग्नकी अवस्था इस तरहसे विताते थे। लग्नके फलरूप उन्हे प्रियदर्शना नामकी पुत्री जिसका विवाह योग्य वयमें जमाली राजकुमारके साथ हुआ था।

अठाईस वर्षकी आयुमें प्रभुके मातापिताका स्वर्गवास हो गया। संसारका संसारत्व द्रव्यके उत्पाद और व्ययमें ही समाया हुआ है। इस वातको अच्छी तरह समझनेवाले वर्द्धमान प्रभु इस खेदजनक प्रसंगसे व्याकुल न होकर अपने बड़े भाई नंदीवर्द्धनको इस संसारकी विनश्वरताका आश्वासन दिया। नंदीवर्द्धनने वीर प्रभुका राजमुकट धारण करनेकी प्रार्थना की परन्तु प्रभुने उसे स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् नंधीवर्द्धन राज्य सिंहासन पर बैठे। वीर प्रभुने उनसे

तब इस प्रकार प्रार्थना की कि " प्रिय बांधव मेरे ग्रहस्थावासकी स्थितिका अब अन्त आगया है इसलिये मुझे दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये " अपने अनुजकी इस प्रार्थनाको सुनी। खेदसे गद्गदित होते हुए नंदीवर्द्धन बोले "भाई हमारे पिताका अवसान हुए अभी बहुत समय नहीं हुआ है। उनका शोक अभी ताजा ही है और जो ऐसे समयमें तुम्हारा वियोग भी हो जावेगा तो दुःखसे मेरा हृदय फट जायगा" करुणासागर वीरप्रभुको अपने बड़े भाईके दीन वचनों पर दया आई। उच्चकोटिके महापुरुष कोई भी कार्य चाहें व कितना ही विशुद्ध क्यों न हो परन्तु जिसके करनेसे दूसरोंको कष्ट उत्पन्न होता है वह कभी नहीं करते। और न ऐसा होना सहन ही कर सकते हैं। बहुतसे प्रसङ्गोंपर तो यह कष्ट रागांधतासे प्रकट होता है। इन अज्ञानजन्य भावोंकी तृप्तिके लिये प्रत्येक प्रसङ्ग पर रुकना तो असंभवसा है फिर भी अपने आदर्श जीवनमें किसीको न तो कष्टका प्रसङ्ग देते हैं और न उसके निमित्त कारण आप ही होते हैं। दूसरोंकी अज्ञान वासनाओंको हर तरह निभानेका कार्य मात्र उत्कृष्ट कोटिके महात्माओंसे ही बन सकता है। सामान्य ज्ञानी ऐसे वृती नहीं होसकते और न उनके लिये यह वस्तुः योग्य भी है अपने शत्रु और कल्याणकारी उद्देशको छोड़कर जगत्की मोहजन्य वासनाओंको तृप्त करनेके लिये बैठे रहनेसे ही स्वपरका श्रेय सिद्ध नहीं होता। इन वासनाओंका प्रत्याघात ऐसी अवज्ञा करनेवाले पर नहीं होता। क्योंकि अज्ञान और उसके समपरिणाम ज्ञान और ज्ञानीके परिणामोंके साथ संघटनमें आते ही प्रकाशसे अन्धकारकी भांति नष्ट होजाते

हैं। सामान्य कोटिके मनुष्योंको अपनी शुभ भावनाके तदानुसार चारित्रके भोगसे समाज अथवा अपने सम्बन्धियोंकी अज्ञानजन्य भावनाओंको वीर प्रभुकी भांति तृप्ति देना योग्य नहीं है। क्योंकि इसका अनुकरण मनुष्यजगत्की अज्ञानताको जो पहिलेसे ही अधिक प्रमाणमें है सहायता एवम् वृद्धि मिलती है और अपनी शुभ भावनाओंको इस प्रकार भटकती हुई छोड़ देनेसे व हमारे विपरीत वर्त्तनके कारण शुभके प्रमाणमें अशुभ एवम् निकृष्ट बन जाती है। वीरप्रभुने जो अपने बड़े भाईकी मोहजन्य याचनाको स्वीकारा, वह उनके तीर्थङ्कर नाम कर्मके सर्वथा अनुभूत और योग्य था। परन्तु तीर्थङ्कर सिवाय अन्य आत्माओंके लिये ऐसा वर्त्तन योग्य नहीं गिना जाता। एक अज्ञानजन्य याचनाका स्वीकार ही ऐसी अनेक याचनाओंको हमारे पीछे २ खिंच लाता है, और आखिरमें ऐसा अवसर आन पहुंचता है कि आत्मा पहिलेकी विशुद्धिको खो बैठता है। अनन्तकालसे रागके पाशमें बंधा हुआ यह भोगी आत्मा अपने पुराने साथियोंमें फिरसे रचलेने लग जाता है और कालान्तरमें अपने सद्गुणोंसे भ्रष्ट होकर भोग ही का कीड़ा बन जीवन निर्गमन करता है।

बड़े भाईकी प्रार्थनाको मान देकर वीरप्रभु और दो वर्ष तक गृहस्थावासमें रहे। स्वयम् ज्ञानकी उच्च कलामें विराजमान थे और किसी भी प्रकारसे भ्रष्ट होनेकी संभावना नहीं थी तो भी अन्य जीवोंको दृष्टान्तमय होनेके लिये प्रभु उत्कृष्ट गृहस्थीके आचारोंका पालन करते थे। कायोत्सर्ग ब्रह्मचर्य, परशीलन, विशुद्धध्यानकी तत्परता केवल प्राण निर्वहनार्थ प्रासुक अन्नका आहार आदि आ-

चार पालन करते थे। ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानी होनेपर भी आचारका त्याग उन्होंने गृहस्थावासमें नहीं किया था। " जब चाहे तब ऐसा कर सकते हैं इस निर्बल विचारका प्रस्फुटन भी उनके हृदयमें नहीं हुआ था "। प्रसंग आनेपर करेंगे ऐसी भावना केवल कायर पुरुषोंके हृदयमें ही हुआ करती है। वीर पुरुष एक क्षणभर भी कार्य करनेमें विलम्ब नहीं करते। भाईकी प्रार्थनाको मान्य रखनेके लिये प्रभुने दीक्षा गृहण करनेका विचार और दो वर्षके लिये स्थगित कर दिया। परन्तु भावसे वे एक रोममें भी अदीक्षित नहीं थे। गृहस्थ पर्यायकी जो स्थिति उपार्जन की थी, केवल उसहीको उदासीन भावसे बिना कर्म आश्रव किये वर्त्तन करते थे। ज्ञानीजनोंको दोनों प्रकारके शाता और अशाता वेदनीयमें वेदनपना ही मालूम होता है। उन्हें एकके प्रति राग दूसरेके प्रति द्वेष नहीं होता। शारीरिक दुःख और सुख ये दोनों ही स्थितियाँ उन्हें समान दुःखप्रद मालूम पड़ती हैं क्योंकि दोनों हीमें आत्माको मुझानेका तथा उसे अपने स्वाभाविक स्थानसे गिरादेनेकी शक्ति समान होती है। जो कुछ आत्माको आवृत करता है वह उनके मनको एक समान हानिकर जान पड़ता है। वे भावकी प्रबलताके तारतम्य अनुसार ही सुखकी हिम्मत अधिक और दुःख भार रूप मालूम होता है। परन्तु जिनका यह भाव नाश हो चुका है उनके लिये ये दोनों ही शारीरिक क्रियाएं आत्मा पर समान दबाव डालनेवाली मालूम होती हैं।

इसलिये प्रभु भाईकी याचनाको सफल करनेके लिये बारह महीने पर्यन्त और गृहस्थावासमें रहे। इसके बाद उनका दीक्षा

पर्याय आरंभ हुआ। अपने सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर पर वैरागीके योग्य पोशाक प्रभुने धारण करली। जो कोमल शरीर आज पर्यन्त राज्यकी विपुल समर्द्धियोंमें पोषित तथा परिवर्धित हुआ था और जिसको तृप्त सुवर्णसम ज्योतिर्मयताके गरम हवाका स्पर्श भी कभी नहीं होने पाया था। वही मनोहर प्रतिमा आजसे संयमकी कफनीसे याचादित हो गई। संसारके पाप धोनेके लिये प्रभुने समस्त पुण्य सामग्रीका त्याग कर दिया। जिस शरीर शोभाको पामरसे पामर जीव भी प्रिय गिनते हैं उसका प्रभुने केशोंके लोचसे नाश कर दिया। जिन भोगोंके क्षणिक वियोगमे ही यह संसारी आत्मा गहरे निश्वास छोड़ने लगता है महावीर प्रभुने उन्ही भोगोंको प्रसन्नता पूर्वक छोड़ दिया। सुशीला पत्नि यशोदा, प्रिय दुहिता प्रियदर्शना, छत्ररूप वड़े भाई नंदीवर्द्धन, राज्यकी अतुल लक्ष्मी और आज्ञाकारी अनुचर इन सबका त्याग करते समय प्रभुको रंच मात्र भी खेद नहीं हुआ। राज्यकी समर्द्धिमें पोषण प्राप्त उनका कोमल शरीर संयमके कठिन कष्टोंको किस प्रकार सहन कर सकेगा ऐसा दैहिकभावयुक्त विचार उनको निर्बल कर अपने उद्देशसे नहीं हटा सका। कहाँ तो स्वार्थका रंच मात्र भी लोप हो जानेसे दुःख प्रकट करनेवाला यह पामर भीरु आत्मा और कहाँ बाह्य सम्पत्तिमेंसे अहम् भावको सत्तांश छोड़नेवाला अमोहशक्ति सम्पन्न वीर आत्मा?

संयोग और वियोग बादलोंके माफिक बंधते हैं और फिर विखर जाते हैं इस बातको समझनेवाला महात्मा पुरुप संयोगकालमें कभी प्रसन्न नहीं होता और न उसके वियोगकालमें उस प्रसन्नताके प्रत्याघात रूप खिन्नता ही प्रकट करता है कि

जिसका वियोग एक समय होनेवाला है उसका त्याग महात्माजनोंके हृदयमें उलटी शान्ति देता है। क्योंकि ऐसा करनेमें वे मात्र भविष्यमें आनेवाली आपत्तियोंका परिहार उसी क्षणमें ही करते हैं।

जो देना है वह समय पर देना ही पड़ता है महापुरुष उसको शीघ्र देना शुरू कर उसके कर्जसे छूट जाते हैं। इस मिट्टीकी खोली पर चढ़े हुए पुद्गलका सुन्दर और मनोरम दीखने-वाला सुन्दर रंग उनकी दृष्टिको किसी प्रकार रागवश नहीं कर सकता।

प्रभुका दीक्षा महोत्सव देवों और मनुष्योंने मिलकर मनाया था। चारित्र गृहण करने पर उन्हें मनःपर्याय ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। दीक्षा पश्चात् बारह वर्ष पर्यन्त प्रभुने ऐसे २ असह्य परीषहों-को कि जिसकी स्मृति मात्र ही कठिनसे कठिन हृदयोंको द्रवित कर देती है सहन किये थे। ज्यों २ आत्मा मुक्तिकी ओर बढ़ता जाता है। त्यों २ संचित कर्मोंका उदय शीघ्र तथा तीव्रतर होता जाता है जिस प्रकार चलते हुए व्यापारको बंद करनेवाले व्यापारीसे उसके लेनदार तकाजा पर तकाजा लगा अपना लेना वसूल करने लगते हैं उसी प्रकार मोक्षाभिमुख आत्मासे उसके पूर्वो-पार्जित कर्म एक साथ फल देकर अपना २ हिसाब चुकता करनेको तत्पर हो जाते हैं। मोक्ष पथ विहारी आत्मा-को अनेकवार असाधारण संकट उठाने पड़ते हैं। धर्मीके घर धाड' यह प्रचलित लोकोक्ति भी अनेकवार उनके जी-वनमें चरितार्थ होती है इसका भी यही हेतु है। मोक्ष मार्गानुगा-

मियोंको अनेक संकट उठाने पड़ते हैं इसके अनेक ज्वलंत उदाहरण. हम सुनते आये हैं और सदा सुनते हैं । बाल जीवोंके प्रबोधनार्थ अनेक उत्तम ग्रन्थकारोंने 'उपमिति भव प्रपंच कथा, मोह राजाका रास' आदि रूपक ग्रन्थोंकी रचना कर केवल यही सिद्ध किया है कि मुमुक्षुके मार्गमें मोह राजाके सुभट सरासर विघ्न पटकते ही रहते हैं, जिन दर्शनोंने ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता माना है वे भी इस बातको प्रभु अपने भक्तोंकी जांच करता है, इस रूपमें कहते हैं कोई इससे रक्तबीज और कोई Deweller on the threshlol कहते हैं । किम् बहुना परमात्माके महाराज्यकी और पर्यान करनेवावाले महात्माओंको संकटपर संकट उठाने पड़ते हैं । परन्तु जिन आत्मपर्याय पुरुषोंने देहके ममत्व भावका सर्वांश त्याग कर दिया है ये संकट जैसे हमारे प्राकृत दृष्टिको सत्य और गंभीर जान पड़ते हैं वैसे नहीं मालूम पड़ते । जिस स्थितिका ज्ञान हमें मात्र हमारे शास्त्रोंकी वाणीद्वारा ही होता है उसी स्थितिका ये महात्मा परोक्ष अनुभव करते हैं । देह और दैहिक धर्म इनका आत्माके साथ न कभी कुछ सम्बन्ध हुआ है न होता है और न होगा इस प्रकारका निश्चय उनके प्रत्येक रोम २ में व्याप्त रहता है इसलिये उन्हें इसमें लेशमात्र भी शंका नहीं रहती । जितने अंशमें दैहिक ममत्वभाव हममें बना रहता है उतने ही अंशमें उसके सुख दुःख हमारी आत्मापर अपना प्रभाव डालते हैं और यही कारण है कि शास्त्रकारोंने वेदनीय और मोहनीय कर्मकी प्रकृतिको भिन्न२ बताई हैं । जितने अंशमें मोहनीय कर्म्मकी प्रकृतिका प्राबल्य होता है उतने ही अंशमें वेदनीय कर्म्म आत्मा-

पर असर करते हैं। मोहनीय कर्मके शिथिल पड़जाने पर वेदनीय कर्म्म लगभग नहींवत् हो जाते हैं। जिस प्रकार विशाल पटवाली परन्तु निर्जल सरिता मनुष्यको खींच बाहिर नहीं ले जा सकती उसी प्रकार तीव्रसे तीव्र वेदनीय कर्म प्रकृतिका उदय यदि वह मोहनीय कर्म्मरूपी नदीकी वेगवती विपुल धाराओंसे रहित हो तो आत्माको उत्क्रान्ति मार्गसे नीचे गिरानेमें शक्तिहीन है। उपरोक्त विवेचनसे हमारा यह कथन नहीं है कि ज्ञानीजनोंको कष्ट नहीं होता है परन्तु कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उनका कष्ट उनकी अवशेष मोहनीय कर्म्म प्रकृतिके प्रभावमें ही होता है। सुख दुःखका मूल मोहनीय कर्म्म है और जितनी इसकी प्रबलता होती है आत्मा उतना ही सुख दुःख अनुभव करता है।

वीर प्रभुको दीक्षा कालमें जो२ कष्ट और आपत्तियें सहनी पड़ी हैं उनको भी हमें इस दृष्टिसे देखना चाहिये। प्रभुका मोहनीय कर्म क्षीणप्राय: होनेसे उन्हे शारीरिक कष्टोंमें उतनी आत्म वेदना नही होनी चाहिये कि जितनी हमारी विमुग्ध दृष्टि कल्पना कर सक्ती है। महात्माओंको ऐसे कष्ट किसी गिनतीमें नहीं होते। सबल और निर्बल प्राणिको एक ही प्रकारका प्रहार समान असरकारक नहीं होता वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानियोंको एक प्रकारका संकट समान प्रभावोत्पादक नहीं होता। जैसे हाथीकी चौड़ी पीठमें मारी हुई लकड़ीकी चोट उसके किसी लेखेमें नहीं होती परन्तु वही लकड़ी की चोट एक क्षुद्र कुत्तेको मृत:प्राय कर डालती है। वैसे ही एक प्रकारका कष्ट विरक्त आत्माको यद्यपि अकिंचितकरसा होता है। परन्तु रक्त आत्माको तो धूलमें लौटाने जैसा बना देती है। वीर

'प्रभुको जो महा वेदनाएँ उठानी पड़ी थीं वे जैसी हमें भयङ्कर तथा असत्य भासती है उन्हे वैसी न थी। इनकी सहिष्णुता अद्भूत थी। सच्चे क्षत्रियको रण संग्राममें लगे हुए तलवारके घाव काँटेके समान वेदना भी नहीं देते क्योंकि उसे उस समय यह देह किंचितवत् मालूम होता है। यदि उसे भी उस समय जितनी हम कल्पना करते हैं उतना कष्ट होता हो तो वह कभी इतनी शूरवीरताके कार्यमें प्रवृत्त हो नहीं सकता। हम कई वेर दूसरोंकी आपत्तियोंका अपनेमें आरोप कर अपने रागद्वेषानुसार उनमेंसे प्रकट होती हुई सुख दुःखकी लागनियोंका अनुभव करते हैं परन्तु इस प्रकार आरोप करते समय हम एक महत्वकी बात आरोप करना भूल जाते हैं। वह आपत्तिका आरोप जिसमें हम अपने आपकी कल्पना करते हैं उस व्यक्ति विशेषकी आत्म स्थितिका है उस स्थितिका लक्ष दिये विना ही किया हुआ यह स्थूल आरोप हमें एक भारी भूलमें ला पटकता है, सत्यके एक आवश्यक अंगसे हमे वंचित रख देता है। वीरपरमात्माके कष्टकी कल्पना कर उसमेंसे निकलते हुए साररूप उनकी सहिष्णुताकी हम स्तुति करें उसके साथ हमे उनकी विरक्तता तथा उनके अगाध आत्मबलकी कल्पना करना भी नहीं भूलना चाहिये। उस सहिष्णुताके उत्पत्ति स्थानका जो विचार करना हम भूल जाय तो प्रभुके चरित्रमेंसे निकलता हुआ सार हमारे लिये अर्धोर्ध निष्फल चला जावेगा। आत्माके किसी उत्तम वर्त्तनकी स्तुति करनेके साथ यदि यह नहीं देखा जाय कि यह वर्त्तन आत्माके किस अंशमें उद्भवित हुआ है तो वह थूल वर्त्तन हमें विशेष लाभप्रद नहीं होता। बाह्य वर्त्तनमें मात्र

हमें आश्चर्यान्वित करनेकी करामात होती है परन्तु उसके प्रभव स्थानका परिचय पानेसे वह आश्चर्य जो कि पहिले अद्भूत मालूम होता था नाश होकर उसके स्थानमें संभवनीय तथा बुद्धि गम्य हो जाती है। किंमेषु अधिकम् प्रभुका अमोघ धैर्य, सहनशीलता, समभावशत्रु और मित्र प्रति समान दृष्टि सारे दीव्य गुण उनके आत्मा-की विशुद्धतामेंसे प्रगट हुए थे।

दीक्षा लेनेके पश्चात् विहार करते २ प्रभु एकदा कुमार गांवके निकट पधारे वहां नासिका अग्र भाग पर अपनी दृष्टि जमा दोनों हाथ लम्बे कर स्थूल मूर्तिकी भांति कायोत्सर्ग ध्यानमें लीन हो गये ऐसे ही समयमें एक गोवाला अपने बैलोंको चराता हुआ वहाँ आ निकला और उन्हें प्रभुके सामने चरते हुए छोड-कर कारणवशात घरको चला गया। उसके जाने पश्चात् वे बैल स्वच्छन्दतासे चरते २ बहुत दूर चले गये और इसलिये उस गोवालाके लौटने पर उसे वे वहां नहीं मिले। उसने घभराकर झटसे प्रभुसे उनका पत्ता पूछा परंतु ध्यानस्थ प्रभु उसे किस प्रकार उत्तर देते? हताश हो वह उन्हे शोधनेको आगे बढ़ा इस बीचमें बैल चरते २ पीछे प्रभुके पास आकर बैठ गये। गोवाला ढूंढता २ फिर उधर ही आ निकला। आते ही सामने देखता क्या है कि उसके दोनों बैल प्रभुके पास बैठे हुए हैं। इस घटनासे अनेक संकल्प विकल्प बाद वह इस निश्चय पर आया कि इस साधुने मेरे बैलोंको चुरा ले जानेकी खोटी दानीशसे ही उस समय कहीं न कहीं छिपा रक्खे थे। बस फिर क्या था क्रोध रूपी पिशाचके फंदेमें पड़कर ध्यानस्थ प्रभुको मारनेको लपका। उसी समयमें

अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रभुकी इस संकटमय दशाको प्रत्यक्ष देख, दौड़ता हुआ इन्द्र भी इस घटना स्थलपर आ उपस्थित हुआ और उस गोवालेको समझाया "मूढ़ यह तो महामुनि हैं। तेरे बैलों की इन्हें क्या आवश्यक्ता पड़ी है? इस अवस्थाके लिये अपनी विपुल राजलक्ष्मीको भी इन्होंने छोड़ दिया।" इन्द्रके ऐसे निष्ठ वचन सुनकर गोवाला शान्त हो अपने घर चल दिया। उसके जाने पश्चात् इन्द्रने भगवानसे प्रार्थना की कि हे नाथ! अभी बारह वर्ष पर्यन्त आपको सर्व उपसर्ग ही उपसर्ग होनेवाले हैं अस्तु आप कृपा कर आज्ञा दें कि यह दास उन्हें निवारण करनेके लिये निरन्तर आपके साथ रहे। भगवानने समाधि पाकर इन्द्रकी प्रार्थनाका जो उत्तर दिया वह उनकी सदमस्तावस्थाकी अद्भुत ज्ञानमयताकी पूरी २ साक्षी देता है। कर्मके अटल सिद्धान्तको हस्तामलकवत् समझनेवाले प्रभुने उत्तर दिया कि हे इन्द्र? तीर्थङ्कर पर सहायकी अपेक्षा कभी नहीं रखते। अर्हन्तोंको दूसरोंकी सहायतासे कभी केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा न आज तक कभी हुआ है और न कभी होनेवाला है। आत्मा स्वशक्तिसे ही केवलज्ञान प्राप्त करता है और फिर मोक्षमें जाता है।

स्वार्थके लिये महापुरुष अपनी लब्धियों अथवा सिद्धियोंका कभी प्रयोग नहीं करते। क्योंकि निकाचित कर्मोंको क्षय करनेमें वे कुछ भी उपयोगी नहीं होतीं। इसी प्रकार वे दैवी अथवा मानुषी कोई भी सत्ताका उपयोग करनेसे दूर रहते हैं। जिनका देहाभिमान सर्व प्रकारसे निवृत्त हो गया है और जिनके लिये देह सम्बन्धी शुभाशुभ परिणामकी धाराका भी निरोध हो गया है

ऐसे ज्ञानी महात्मा उदयमान शारीरिक कष्टको यथायोग्य रीतिसे भोग लेनेमें रंच मात्र संकोच नहीं करते। सामान्यतः कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकार ऐसा है कि वह शुभ ध्यानसे मंत्रादि प्रयोगसे अथवा संयम द्वारा भोगा जासकता है परन्तु जो दूसरे प्रकारका कर्म है वह निकाचित है। एवम् जिस प्रकारसे वह बांधा गया है उसी प्रकार भोगा भी जाना चाहिये इससे छुटनेके लिये ज्ञानी जन कभी इच्छा नहीं करते। जो कर्म शिथिल हैं वे आत्माके पुरुषार्थ द्वारा छुटाये जा सकते हैं परन्तु जो निकाचित हैं उनका भोगनेसे ही छुटकारा हो सकता है।

परन्तु प्रकृति नियमानुसार दूसरी तरहके निकाचित कर्म भोगने ही पड़ते हैं। अतएव यदि वेदनीयादि कर्म दृढ़तासे उदयमान हो जायँ तो भी महापुरुष उनको सदा सहनेको तैयार रहते हैं और अपनी प्राप्त सिद्धि अथवा दूसरोंकी सहायसे सदा निरपेक्ष रहते हैं। जिनके अंदर यथार्थ ज्ञानका अभाव है तो भी वे अपने आपको ज्ञानी मानते हैं उन्हें भी निकाचित कर्म भोगने ही पड़ते हैं। वीर प्रभुको इन्हे भोगनेकी अनिच्छा उनके उस समयकी ज्ञानमय दशाको देखते होना असंभव था और यही कारण था कि इन्होंने इन्द्रकी प्रार्थनाका स्वीकार नहीं किया था।

भक्ति भावसे प्रेरित इन्द्रको प्रभुके शरीर पर अत्यन्त मोह था परन्तु वही शरीर प्रभुके लिये अकिंचितकर था। प्रभु यह अच्छी तरह जानते थे कि कर्मकी फलदात्री सत्ताका निरोध तेरवें गुणस्थानमें वर्त्तन करनेवाले महायोगीसे भी नहीं बन आता है तो फिर इन्द्रकी सहायता किस गिनतीमें है। आत्माका वास्तविक सामर्थ्य

सिर्फ भोग लेनेमें ही श्रेय है। आत्माद्वारा जो कारण पूर्व भवमें गतिमें रक्खे गये हैं उनको यथा योग्य परिणाम देते हुए कोई नहीं रोक सकता है। अवधिज्ञानसे प्रभु अपने पूर्वकालके निकाचित बंधको, उसके स्वरूपको और उसका जिस तरहसे भोगा जाना निर्माण हो चुका है, उसको अच्छी तरहसे जानते थे। अतएव उन्होंने उन कर्मोंको दूसरे तौर पर भोगनेका बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया।

तो भी ऐसी कल्पना करना उपयुक्त नहीं है कि प्राणी मात्र अपने २ कर्मोंको भोगा करे इसमें किसीको दखल नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा ही हो तो अनुकम्पा और दयाके मार्गका उच्छेद हो जानेका भय रहता है। सामान्य प्राणी यह नहीं जानते हैं कि अमुक कर्म शिथिल हैं अथवा निकाचित। किसी प्राणीको रोगवश देखकर अथवा उपसर्गसे दुःखी देखकर उसको सहायता देना यह शास्त्रका उत्सर्ग और सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि ऐसा करनेसे वह पीड़ित जीव अनेक आर्त्त रौद्र ध्यानसे बच जाता है, और इससे अनेक नये कर्म उपार्जन करनेसे रुक जाता है। जो कि इस तरहकी सहायतासे यदि कर्मोंकी निवृत्ति होनी हो तो ही वे निवृत्त हो सकते हैं। परन्तु इससे पीड़ित आत्माको शान्ति और आश्वासनका निमित्त होकर उसके उदयमान कर्मोंकी तीव्रताको किसी अंशमें न्यून करनेमें समर्थ हो जाती है। यदि आत्मा किसीकी सहायता विना प्रभुकी नाईं समभावमें रहनेको समर्थ हो तो भी दयाके मार्गका लोप न हो जाय इसलिये इस प्रवृत्तिको नित्य कायम रखना ही प्राणी मात्रका कर्त्तव्य है। जो कि बलवान

आत्माको ऐसी सहायता की कुछ भी उपेक्षा नहीं रहती है। कर्म रूपी अरिको जीतनेके लिये प्रभुने जिस अद्भुत चरित्रको गठित किया था वह देश अथवा कालसे निरपेक्ष पनेमें चाहे जिस आत्माको मोक्षपद स्थापित करनेको सम्पूर्ण था। हेमाद्रिकी नाई निश्चल परिणामी, सागरकी नाई गंभीर, सिंहकी नाई निर्भय और मोह रूपी ससलासे अजय, कूर्मकी नाई इन्द्रादिको गुप्त रखनेवाले, पक्षीके समान गुप्त विहारी, सब प्रकारके सुख दुःखमें समभावी इस लोक अथवा परलोकमें न्यूनाधिकता नहीं माननेवाले, जल स्थित कमल दलके नाई संसार पंकमें विहरने पर भी निर्लेप, गजेन्द्रके समान बलशाली होने पर भी मेमनेके माफिक किसीको नहीं नुकसान पहुंचानेवाले और अस्खलित गतिवाले वीर प्रभु समय २ पर अनंत पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करते २ विहार करते थे।

एक दफा भगवान श्वेताम्बी नामक नगरकी ओर जाते थे। रास्तेमें वटेमार्गुओंने प्रभुको सचेत किये कि रास्तेमें दृष्टि विष सर्प रहता है, इसलिये वहाँ होकर पक्षी भी नहीं उड़ सकते हैं। प्रभुने अपने ज्ञान बलसे देखा तो मालूम हुआ कि वह अत्यन्त क्रोध स्वभाववाला है परन्तु उसमें एक गुण है कि वह सुलभबोधी है। जीवकी किसी भी अनिष्ट प्रकृतिको तीव्र उदयमान देखकर मनुष्य यह ख्याल करता है कि इसका सुधरना असंभव है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होना चाहिये। जब चित्तका कोई अंश विकृत होता है तब उसको योग्य उपाय द्वारा सुधार सकते हैं इतना ही नहीं परन्तु उस अनिष्ट अंशका जितना बल बुराईकी ओर झुका होता है, उतना ही अंश भलाईकी ओर बदल दिया

जा सकता है। किसी भी प्रकारकी बलवान चित्तस्थिति उपयोगी गिनी जाती है चाहे वह इष्ट हो अथवा अनिष्ट। कारण कि दोनों बरोबर सामर्थ्य सम्पन्न हैं। सिर्फ फर्क इतना ही है कि वर्त्तमान शुभमें और दूसरे क्षणमें अशुभ लगा रहता है। तो भी दोनों शक्ति और कार्यक्षमताकी अपेक्षा बरोबर गिनने योग्य हैं। जिस शक्तिके ये शुभाशुभ परिणाम हैं, उस शक्तिकी हमें सदा प्रशंसा करना चाहिये। कच्चे अन्नको स्वादिष्ट पकवानके रूपमें पका देनेमें और अनेक उपयोगी वस्तुओंको भस्मीभूत करनेमें ज्यों अग्नि एक ही है त्यों शुभ और अशुभमें कर्त्तव्य परायण शक्ति आत्माके एक ही अंशमेंसे उद्भवित होती है। मात्र इसका उपयोग अच्छी अथवा बुरी दशामें करना ही सिरफ अवशेष रहता है। बहुत मौकों पर हमारी समझ भूलसे भरी हुई प्रतीत होती है कि हम तीव्र और अनिष्ट प्रकृतिको बहुत करके धिक्कारते हैं। परन्तु साथमें यह देखना भूलजाते हैं कि जो शक्ति इतना अधिक कार्य करनेको समर्थ है वही शक्ति इष्ट दशामें कार्य करनेकी योग्यता रखती है। जो चक्रवर्ती सातवें नरकमें जाने जितने तीव्रकर्म उपार्जन कर सकता है वह उसी कर्मको करनेकी शक्तिको यदि शुभ कार्यकी ओर लगा दे तो बहुत शीघ्र मोक्ष सुखका भोक्ता हो सकता है। वस्तुतः हमारा अधिकार प्रवृत्ति शून्यता की ओर होना चाहिये। जो कुछ भी शुभाशुभ करनेको समर्थ नहीं है, गले हुए बादल की नाईं जो जरा भी पानीको नहीं वर्षा सकते हैं, अचेतके माफिक जो जगतकी सत्ताकी ठोकरें खाया करता है, जिसकी पामरता, भोगलालसा, दारिद्रय और प्रमादकी अवधि

नहीं है। कदापि ऐसे जीवोंको हम सुधारके बाहिर वर्त्तमान कालमें गिन सकते हैं; परन्तु जिसमें कुछ जोश—पाणी वीर्य—शौर्य है वे उसके चाहे जिस शुभाशुभ परिणाममें प्रशंसा करने योग्य हैं। कारण कि उनके अशुभ पर्यायमें भी वे जिस द्रव्यसे बने हैं वह द्रव्य शक्ति क्षयोपशम भावमें आत्माको प्राप्त होता है और निमित्त मिलेपर यथेष्ट तौर पर विस्तारित हो सकता है।

प्रभु इस बातको अच्छी तरहसे जानते थे अतएव उन्होंने वहाँ होकर जाना योग्य समझा। यदि ऐसा ही होता वे उस रास्ते होकर जानेकी बिलकुल आवश्यक्ता नहीं समझते। बड़े पुरुषोंकी प्रवृत्ति दशा स्वपरको कल्याणकारी होती है। प्रभु यह जानते थे कि किसी भी शक्तिकी विकृत अवस्था ही उस प्राणीके अयोग्यताका लक्षण नहीं है। सिर्फ उसके विकारका पराभव करके उसको सन्मार्गमें ले जानेकी अपेक्षा रहती है। जिस नदीके जल प्रवाह-का बल सारे शहरको खींचकर ले जानेको समर्थ है उसमेंसे यदि विद्युत पैदा की जाय तो उससे हजारों मिलें चलने जितनी शक्ति पैदा हो जाती है इसी तरह द्रष्टि विष सर्पकी जो क्रोध ज्वाला उड़ते हुए पक्षीको भी भस्मीभूत करनेको समर्थ थी, उसी ज्वालाको बदलकर शान्तिमें परिणमन करते ही वह मोक्ष सुखको सहजमें दिला सकती है उसमें जितनी अनिष्ट करनेकी शक्ति है उतनी ही शक्ति उसमें कल्याण करनेकी है। सिर्फ इसको इष्ट कार्यकी ओर कैसे लगाना चाहिये इसके लिये विलक्षणता और धैर्यकी अपेक्षा रहती है। प्रभुने इस कार्यको सांगोपांग किस तरह पार किया यह बेशक हमारे लिये जानने योग्य बात है। उन्होंने जिस तरहसे

इस कार्यको पार किया है वह हमें अत्यन्त माननीय है और उसी पद्धतिका आश्रय लेकर हम भी अपने इधर उधरके मनुष्योंके छोटे बड़े दोषोंको सुधार सकते हैं। दूसरोंके दोषोंको सुधारनेकी हमारी पद्धति भूलसे भरी हुई है इतना ही कहना काफी नहीं है परन्तु बिलकुल ही विपरीत है। सुखकी इच्छासे हम लोग अक्सर समक्ष मनुष्यके दोषोंका प्रमाण बढ़ा सकते हैं और हमारा राग द्वेष हमको संयममें रखनेसे असमर्थ होता हैं इससे उलटा हम समक्ष मनुष्यका अहित करते हैं। हम अक्सर क्रोधी मनुष्य प्रति अमुक हद तक आये बाद क्रोधको बताते हैं और हमारा यह वर्त्तन ही समक्ष मनुष्यके दोषोंमें द्विगुणकी वृद्धि करता है। उसके क्रोधके साथ हमारा क्रोध मिलते ही विश्वमें क्रोधका प्रमाण बढ़ जाता है और क्रोधके प्रमाणको बढ़ानेमें हम सहायकहोते हैं। जहां पर पहिले एक मुष्टी धूल उड़ती थी वहां पर हम दूसरी मुष्टी धूलकी उड़ाते हैं। परन्तु वस्तुतः हमें उसके प्रति परम शान्ति और क्षमाशील रहना चाहिये। कितनी ही विकट कसौटी क्यों न हो परन्तु हमें अपना काबू नहीं खोना चाहिये। यदि ऐसा ही किया जाय तो समक्ष मनुष्यका हित हो सकता है और यदि इसके विपरीत हम वर्त्तन करें तो हमारा और सामनेवाले मनुष्यका स्वभाव विशेष अनिष्ट हो जाता है। ज्यों अर्धदग्ध वैद्य रोगीको आराम नहीं पहुंचा सकता है परन्तु उससे उलटी हानि होती है त्यों ही असंयमी मानव वैद्य भी हमारे समक्ष दोषोंको सुधारनेके बजाय उलटा प्रादुर्भाव करता हैं। जो लोग अन्त समय तक क्रोध प्रति शान्तिमयता, अभिमान प्रति दीनता, लोभ प्रति अकिंचनता और

मोह .. विरक्तता बता सकते हैं वे ही विश्वका कल्याण कर सकते हैं और अपने चारित्र रूपी दिव्य औषधसे जगतके भव्य जीवोंके आत्मिक विचार सिर्टा सकते हैं। शान्ति और क्षमाके साथ क्रोध की टक्करसे क्रोधका पराभव होता है। इस बातको प्रभुने अपने दृष्टान्तसे जगत्को दर्शा दिया है।

वीरप्रभु उस भयङ्कर सर्पके बिलके पास आये और नासिकाके अग्र भाग पर नेत्रको स्थिर करके कायोत्सर्ग ध्यानमें खड़े हो गये। थोड़ी देरमें साँप बिलमेंसे बाहिर आया और आते ही क्या देखता है कि एक पुरुष शंखुकी नाई स्थिर खड़ा है! देखते ही क्रोधसे लाल हो गया। वह अपने फणोंको फैलाता हुआ, विषाग्निको फैकता हुआ, भयङ्कर फुन्कारसे दृष्टिको फैकता हुआ प्रभुके पास आकर उनके अंगुटको काटा। परन्तु उसके जहरका असर उनके एक रोममें भी नहीं हुआ और वे अपने कायोत्सर्गसे च्युत न होकर उसीके अंदर लीन रहे। शीघ्र ही उस क्रोधके मूर्तिरूप सर्पने प्रभुके सामने दृष्टि की तो उसको मालूम हुआ कि उस पवित्र बदन पर जरा भी क्रोधकी प्रति छाया न थी अलावा- इसके उनके मुखकी प्रसन्नतामें जरा भी न्यूनता नहीं हुई थी। प्रभुके मुख मुद्रापर अत्यन्त कांति, सौम्य तथा क्षमा शीलताको अंकित देखकर स्तब्ध हो गया। प्रभुकी उपशांत रसमयता उसके हृदयमें सक्रांत हो गई। प्रभुके शान्ति बलसे उसका क्रोध बलका पराभव हो गया। प्रभुने उसकी कपोल ज्वाला पर क्षमा जल डाला इससे वह स्वयम् बुझ गई। उसको सुधार पर आते देख प्रभु बोले हे चंडकौशिक! समझ!! समझ!!! मोह वश न हो।

पूर्वको स्मृतिमें ले और जो भूल हो चुकी है उसको सुधार और कल्याणके मार्गकी ओर प्रवृत्त हो " ये शब्द प्रभुके मुखसे ज्योंही निकले ही थे कि उसको पूर्वभवकी स्मृति हो गई। पहिले किसी भवमें वह एक तपस्वी मुनि था और इसने मुनिपनके योग्य कार्य किये थे अतएव इसके पापकी आलोचनाकी स्मृति देनेके लिये एक साधु आया वह उसको मारनेको लपका और बीचमें ही एक स्तंभसे टक्कर खाकर मर गया। तप और क्रोध अक्सर जुड़े हुए मालूम होते हैं और इसको अपने काबूमें न रखनेवालेकी कैसी अधोगति होती है हमारे लिये यह एक सुबोधमय उदाहरण है। पूर्वके क्रोध बलसे वह इस भवमें सांपके रूपमें पैदा हुआ था। भावान्तरमें शुभाशुभ अवतारका निर्णायक हेतु क्या है ? वह भी इस परसे स्पष्ट समझा जा सकता है। यदि प्रकृतिका वर्त्तन आत्मामें बलशाली हो और जिस देहमें यह अमल आ सके वहां ही जीव उत्पन्न होता है। कामी मनुष्य चिड़िया, कबूतर, डक्कर अथवा इससे भी नीचकोटिके जीवोंमें जहां कि यह वासना अतिशय अमलमें आ सके वहां ही जन्म लेते हैं। क्रोधी जीवको अपने वासनाकी तृप्तिके अर्थ सर्प, वृश्चिक, व्याघ्र आदि योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है।

यदि प्रभुने चंड कौशिक सर्पके क्रोधके सामने अपना सामर्थ्य बतानेका प्रयत्न किया होता तो यह हो सकता था, कारण कि प्रभु सामर्थ्यको बतानेके लिये समर्थ थे। प्रभुने मात्र एक अंगुष्ठेके दबावसे मेरु गिरीको चलायमान किया था वही शक्ति चंडकौशिक जैसे महान सर्पोंकी भस्मीभूत करनेको समर्थ थी। उनके विलास मात्रसे वह सर्प भस्मीभूत हो सकता था। परन्तु प्रभु उस

मार्ग न लेते उन्होंने उसी मार्गको हाथमें लिया जिससे उसका कल्याण हो जाय मूर्खके साथ मूर्ख होनेसे उसका स्वत्व तो लूटा जाता है इतना ही नहीं परन्तु उसके साथ मिलनेवालोंका भी साथमें लूटा जाताहै। सर्पने अपने स्वाभानुसार प्रवृति की और प्रभुने अपनें प्रभुत्व योग्य प्रवृति की उस पर अपने उपशम रसका सिंचनकर उसकोके ठिकाने लाया और उसी समयसे सर्पने अपना हिंसक स्वभाव छोड़ दिया और पश्चातापमय जीवन गुजारने लगा। अपनी इस दुःखमय स्थितिमें क्या हेतुभूत था उसको अच्छी तरह समझनेसे भूतकालके स्वभावको त्याग दिया उसने जितनी उग्रतासे पहिले क्रोधका सेवन किया था उतनी ही उग्रतासे वह शान्ति और क्षमाका सेवन करने लगा इतना ही नहीं परन्तु रास्तेमें चलनेवालोंकी तरफ देखना तक छोड़ दिया। लोग उसके शरीरपर हाथ लगावे लकड़ी मारे तो भी उसने इधर उधर होना अथवा करवट लेना खाली नहीं परन्तु आहार आदिको भी छोड़ दिया। चीटियें उसके कलेवरके चारो ओर फिर गई और अमित वेदना करने लगी। तो भी उसने पहिले जिस वीर्यको अनिष्ट करनेमें स्फुरायमान किया था उसी वीर्यको अब परम अर्थके लिये स्फुरायमान करना योग्य समझा। अतएव चींटियें न दब जायँ इस डरसे उसने करवटे लेना बंद कर दिया, आखिरमें काल क्रमसे करुणाके परिणामवाला सर्प यह देह छोड़कर महस्रार देवलोकमें देव हुआ।

वर्त्तमानकालमें अनेक महाजनोंके नजदीक, उनके शान्ति बलसे, हिंसक जीवोंने अपनी खराब वृत्तियें छोड़दी हैं। स्वामी रामतीर्थ अनेकवार सर्प आदि जहरी जंतुओंके सहवासमें दिनके

दिन निर्गमन करते थे तो भी वे उनके कुछ इजा नहीं कर सकते थे। इस विश्वकी सनातन योजना ऐसी घटित हो चुकी है कि प्रेमीमें प्रेमका संचार होजाता है प्रेमके बदलेमें कोई धिक्कार नहीं दे सकता है। सिर्फ विकट कसौटीमेंसे निकलनेके लिये जितनी चाहिये उतनी मनुष्योंमें घटित क्षमा और साहसकी कमी होती है। जो एक प्रसङ्ग पर एक मनुष्य द्वारा बन सकता था वह सर्व प्रसङ्गों पर सबसे बन सकता है। Exception proves the rule अपवाद ही मूल नियमको पूरा करता है।

एक दिन प्रभु गंगा नदीको पार करनेके लिये पथिकोंके साथ नावमें बैठे। समुद्रके समान जलभारसे छलकती सरिताके बीचमें जब नाव आया; तब प्रभुके पूर्व भवका एक बैरी आत्मा जो उस समय सुदृष्ट देव था उसको अपना पुराना बैर याद आया। कर्मके महा नियमकी मर्यादामें बड़े सेबड़े मनुष्य बंधे हुए हैं। वह सुदृष्टदेव पूर्वके भवमें एक सिंह था और वर्द्धमान प्रभुने उस सिंहको मात्र क्रीड़ाके हेतु मारडाला था। कोई भी हेतु अथवा कोप कारण बिना नहीं होता है सिर्फ खेलके लिये दूसरोंके प्राण लेनेमें निर्ध्वंसपन है और इससे जो दूसरोंकी अवज्ञा होती है उसका बदला कर्म-फलदात्री सत्ता बहुत सख्ताईसे लेती है। त्रिपृष्टको जितना जीनेका हक्क था, उतना ही उस सिंहको था। कर्मकी सत्ताने जो आयुष्यका प्रमाण सिंहके लिये मुकरर किया था उसको बीचमेंसे ही काट देनेसे त्रिपृष्टने प्रकृतिकी सीधी गतिमें जो निर्हेतुक कोलाहल किया था उसका बदला समयका परिपाक होने पर त्रिपृष्टको सहना ही चाहिये। मनुष्यका कर्त्तव्य उससे नीच कोटिके जीवोंका रक्षण करनेका है। उसका

उक्त अधिकार और बल उससे नीची कोटिके प्राणियोंको नाश करनेमें न लगाते उसका सदुपयोग करना चाहिये ताकि वे हमारे बरोबर अधिकारकी ओर अपने आप आजायें। उनको अच्छे रास्ते पर लगाना श्रेष्ठ है परन्तु ऐसा करनेमें जब वे निष्फल होजाते हैं तब वे अपने उच्चतम सामर्थ्यका उपयोग नीच कोटिके जीवोंको मारनेको लगते हैं। तब वे प्रकृतिकी साम्यावस्थामें एक तरहका क्षोभ उत्पन्न करते हैं। प्रकृतिका सामायिक वेग क्षोभको शान्त कर पुनः साम्य स्थापित करनेकी ओर होता है और ऐसा करनेमें जो बल प्रकृतिको लगाना पड़ता है, वह क्षोभके प्रमाणसें ही होनेसे आत्मा जो क्षोभ उत्पन्न करता है उसके तारतम्यानुसार प्रकृतिको न्यूनाधिक उद्योग करना पड़ता है और आखिरमें प्रकृतिका प्रत्याघात उस क्षोभ उत्पन्न करनेवाले आत्मा प्रति होता है। इस क्षोभको शान्त करनेमें प्रकृतिको जो समय लगता है उस समयको हमारे शास्त्र 'कर्मकी सत्तागतावस्था' इस नामसे सम्बोधित करते हैं और जब प्रकृति इसको शान्त कर देती है तब उसका प्रत्याघात उस क्षोभ करनेवाले आत्मा प्रति होता है उस समयको हम कर्मका उदय काल कहते हैं। सत्तागत अवस्थामें यदि आत्मा अपने बलके उदयका उपयोग प्रकृतिके क्षोभको शान्त करनेकी ओर लगावे तो उस सहायताके प्रमाण उसके प्रति प्रत्याघातका बल न्यून होता है। इसलिये हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि जहां तक कर्म सत्तामें होते हैं वहांतक वे शान्त होनेकी पात्रता रखते हैं और उसका निवारण मात्र ही कुदरतकी गतिमें उद्भवित क्षोभको शान्त करनेके लिये परिश्रम करना ही है ताकि उनका निवारण हो जाय। गर्विष्ट

आत्माको क्षोभ उत्पन्न करते समय अथवा इसके पश्चात् उसको बिल-
कुल भान नहीं रहता है। आखिरमें उस पर क्षोभजनित ठोक-
रोंका ही उत्पतन ( Rebound ) होता है तब उसकी
आंखे खुलती हैं। परन्तु उस समयका पश्चाताप व्यर्थ है। वही
पश्चाताप यदि कर्मकी सत्तागत अवस्थामें हुआ होता अर्थात्
जिस समय प्रकृति क्षोभको शमाती थी उस समय हुआ होता
तो उसका कुछ परिणाम भी निकलता। परन्तु जब पाप
फूट जाता है अर्थात् जब प्रकृति अपना वैर लेना शुरू कर
देती है उस समय यह बिलकुल व्यर्थ है। इतना नहीं परन्तु
इससे उलटा क्षोभ उत्पन्न होता है।

सुदृष्टदेवने अपनी दिव्य शक्तिके प्रभावसे भयङ्कर संवर्तक
वायु (cyclone) पैदा किया और उसके द्वारा नावको डुबाने लगा।
भागीरथीका अगाध जल चारो ओर उछलने लगा और नावके बच-
नेकी कोई आशा नहीं रही। चड़भी टूट गये और उसमें बैठनेवाले
सर्व मनुष्योंने प्राणके बचनेकी आशा छोड़ दी। जिस क्षणमें कि नाव
डुबनेको तैयार हुई थी उसी क्षणमें दो कंबल और संबल नामक
देव भक्ति भावसे प्रभुप्रति प्रेरित होकर वहां आये और प्रभुके
निमित्त दूसरोंके प्राणोंका नाश समझ उन्होंने शीघ्र ही उस नावको
किनारे पर लाकर लगादी। वहां पर दोनों देवोंने प्रभुसे वंदनाकी।
पश्चात् अपने स्थान पर चले गये। इस विकट प्रसङ्गमेंसे भी निकल
जानेसे क्षमानिधान प्रभुने सुदृष्टपर क्रोध भाव और उपकार करनेवाले
उन देवों पर राग भाव नहीं दर्शाया। देह सम्बन्धी साता और
असाताके प्रसङ्गोंपर न तो वे हर्षित हुए थे और न शोकातुर हुए

थे। वे जानते थे कि सुख दुःख जिसके द्वारा उत्पन्न होता है वह मात्र कुदरती नियमके साधन (agency) हैं उनके प्रति उद्भवित प्रत्येक भाव व्यर्थ है। मूर्ख मनुष्य उस २ प्रकारके निमित्त प्रति विविध प्रकारके मनोभावोंका सेवन करते हैं। प्रभुको यह यह सुज्ञात था कि दोनों कोटिके देव खुदके पूर्वके प्रवर्तित कारणोंके फलीभूत होनेमें हथियार रूप थे अतएव इन हथियारों पर राग द्वेष करना व्यर्थ है। जिस साधनद्वारा कर्म फलदात्री सत्ता उस नियमको गतिमें रखती है उसके साधन पर ही अज्ञान मनुष्य राग द्वेष करते हैं। इन दोनों प्रकारके शुभाशुभ साधनको एक साथ गतिमें रखने पर भी प्रभुने अपने निरुद्विपनको नहीं त्यागा था। चित्तकी सम स्थितिको कायम रखनेके लिये भीषण वृत्तसे वे जरा भी चलित नहीं हुए। जब हम पामर जीव सहज प्रसङ्गसे राग द्वेषका सेवन करते हैं तब महाजन जिसके द्वारा अपने जीवन त्यागका भय उत्पन्न होता है अथवा जिसके द्वारा स्थूल मृत्युसे मुक्त होसके, ऐसे साधनों पर हर्ष अथवा शोक करके बंधवश नहीं होते हैं। जिस तरह पवन सुवासित और दुर्गंधित दोनों तरहके द्रव्योंको अपने साथ लपेट कर अव्याकुलतासे वहता है। उसी तरह महात्मा भी खुदको सुख देनेवाले और दुःख देनेवाले इन दोनों तरहके उदयाधीनमें प्राप्त होनेवाले तत्वोंको, अव्यग्रहतासे साथ लेकर विचरते हैं।

दीक्षाके समयसे लेकर कैवल्य प्राप्तिके समय तक अर्थात् बारह वर्ष तक प्रभुने मौन धारण किया था। उनके चारित्रका यह अंश अत्यन्त बोधक है। स्वहित साधने प्रति जिनकी दृष्टि है

उनके लिये यह अमूल्य शिक्षणसे भरपूर है। जब तक प्रभुको केवल्य प्राप्त नहीं हुआ था उस समय तक उन्होंने किसीको उपदेश नहीं दिया था इतना ही नहीं जहांतक हो सका अपने प्रयत्न द्वारा उसका परिहार किया था। जिनके अंदर कैवल्यके सिवाय और चार प्रकारके ज्ञान विद्यमान थे उन महावीर प्रभुने दीक्षा लेते ही शीघ्र उपदेश प्रवृत्ति शुरू कर दी होती और वे उसमें न्यूनाधिक अंशमें सफलताको भी प्राप्त करते। परन्तु ऐसा न करते पहले उन्होंने खुदका कल्याण करना योग्य समझा और इस सर्वोत्कृष्ट हितको साधने पर्यन्त मौन हीमें रहे। ये किस हेतु विशेषके लिये था इसको समझनेका हम सबको प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा जितने अंशमें पूर्णताको प्राप्त हो जाता है अथवा परमपदके नजदीक होता है उतने ही अंशमें दूसरे मनुष्योंका हित करनेको समर्थ होता है। जिसके जीवको अभी सेंकड़ों तरहसे सुधारना बाकी है जब वह दूसरेको सुधारनेका झंडा लेकर मैदानमें कूद पड़ता है और इस तरहसे झंड़ा लेकर फिरनेसे इस विश्वपर खराब असर होती है। जहां तक सुधारकका चरित्र दोषयुक्त और विकल होता है वहां तक जो प्रवृत्ति दूसरोंको उपदेश देनेमें लगाई जाती है इससे स्व और पर दोनोंके हितका विनाश होता है। दोषयुक्त पानीसे भीगे हुए अन्तःकरणके दागको निकालनेका कर्तव्य छोड़ देना चाहिये और अज्ञानकी मेशको निकालनेका प्रयत्न करना ठीक ऐसा ही है जैसा कि एक कोयलेको दूसरे कोयलेके साथ घिस कर उसके द्वारा दूसरे कोयलेको उज्ज्वल करनेके उद्योग समान है। मनुष्यका मुख्य फर्ज है कि उसका लक्ष कमरकसकर अपने सम्पूर्ण हित

साधनेकी ओर होना चाहिये। अपना स्वहित साधे बाद अपने ज्वलंत उदाहरणसे वह जितना दूसरोंका हित साध सकता है वही हित अपनी अपूर्ण अवस्थामें किसी तरहके उद्योग अथवा सत्तासे कोई नहीं साध सकता है। सम्पूर्ण मनुष्य थोड़ेसे प्रयत्नसे हजारों मनुष्यके मन पर स्थायी असर कर सकता है। परन्तु अपूर्ण मनुष्यमें मूर्खाईसे भरा हुआ पर हित साधनेका आवेश मात्र ही होता है इधर उधरके मनुष्योंकी थोड़ी बहुत प्रशंसाके सिवाय कुछ फल नहीं प्रकट करा सकता है। बाहिरी चाहे कितना ही आडम्बर क्यों न हो तो भी जबतक उपदेशक अन्तःकरणके विचार न्यूनता और अपूर्णतासे भरे होते हैं तबतक वह किसीका सम्पूर्ण हित नहीं साध सकता है। खुदके हृदयमें जितने अंशमें ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता है उतने ही अंशमें वह दूसरों पर असर कर सकता है। अपना कुछ हित साधे बिना उपदेश द्वारा दूसरोंके कल्याण करनेकी मुर्खाई पर अपना उदाहरणरूप अंकुशको रखनेके लिये ही प्रभुने मौन सेवन किया था। परहित साधनेका आवेश बहुत प्रशंसाकी लालचमें उद्भवित होता है और इससे इस उपदेश प्रवृत्तिको जो निर्दोष और परोपकार बुद्धिमेंसे उद्भवित मानते हैं वे ठगे जाते हैं। स्वहितके कल्याणके भोगमें अथवा खुदके अन्तःकरणका अंधेरा कायम रखनेके लिये जो लोग संसारको प्रकाश जबरदस्ती लानेमें प्रयत्नशील रहते हैं। वे हितके बजाय उलटा अपने दृष्टान्तसे संसारका अहित करते हैं। इससे उलटा जिनका लक्ष स्वहित साधनेकी ओर है और जो साधकअवस्थामें परहित साधनेके अविचार भरे आवेशमें नहीं पड़ते हैं वे आखिर जगतका सम्पूर्ण-

हित करनेवाले होते हैं और अपना साधक पद पूर्ण होनेके पश्चात् अपने उत्कृष्ट उदाहरणसे असंख्य मनुष्योंके हृदयपर ज्ञानका प्रकाश डाल सकते हैं। दूसरोंको सुधारनेका आवेग ही एक तरहकी निर्बलता है इस निर्बलतामें पड़कर अपने हितमें प्रमादि सेवन करनेका प्राकृत हृदय कितना अधिक पात्र है इस बातको प्रभु जानते थे अतएव उन्होंने इस निर्बलतासे अपना रक्षण करनेका हमें उपदेश दिया है। जो दोष हमारेमें विद्यमान हैं उन दोषोंको त्याग करनेका उपदेश समक्ष मनुष्यके अन्तःकरणपर खराब असर पैदा करता है इससे जो खराब असर होता है इसको भविष्यमें कम करनेके लिये ही प्रभुने अपने दृष्टान्तसे बता दिया कि उपदेशकका साधक पद जितने अंशमें पूर्ण हो उतने ही अंश वह दूसरोको उपदेश देने लायक है।

जब हम आजकलकी परिस्थितियोंका अवलोकन करते हैं तो हमें प्रभुके उद्देशसे कुछ दूसरा ही दृश्य चारो ओर नजर आता है जिस आवेशको रोकनेके लिये प्रभुने बारह वर्ष तक मौन धारण किया था और उसके द्वारा ही उदाहरण रूप छाप मारनेका प्रयत्न किया था। इसी आवेशने उपदेशकोंके हृदयमें भयङ्कररूप धारण कर लिया है। आज कुछ नई बात सुनी कि एकदम टेबलपर खड़े होकर हाथ लम्बाते हुए दर्शाते हैं परन्तु दूसरोंको लाभ करनेवाली इस मिथ्या परमार्थवाली वृत्तिका लोगोंमें दुर्निग्रह हो चुका है। जिस तरह बिल्लीके पेटमें खीर नहीं टिकती है ठीक उसीके सदृश ऐसे मनुष्य कुछ जान लेनेके पश्चात् चाहे वह सत्य हो अथवा असत्य, परन्तु जहां तक वे इसको लोगोंके सामने प्रदर्शित न करे

उनका धोखा नहीं उतरता है। खुदने अपने मनसे जिस सुखका मार्ग शोध निकाला है उसको आचारमें रखे बिना और उसका अनुभवगत लाभ लिये बिना दूसरोंको अपना निश्चय ठसानेकी इच्छाका दर्द इस संसारमें साधारण हो चुका है। इधर उधरसे एक दो बातें इकट्ठी करके वे सीना पर चढ़कर इस बातको प्रकट करते हैं कि अरे! मूर्खो! मैंने जो सुखका मार्ग तुम्हारे लिये शोध निकाला है उसको तुम क्यों नहीं स्वीकार करते? परन्तु जब संसार उनकी कुछ परवाह नहीं करता है तब वे गुस्सामें आकर कहते हैं कि पंचम आराके भाव भजने शुरू हो गये हैं। यदि ऐसा न हो तो अमृत समान हमारा उपदेश लोगोंके अंदर क्यों न असर करै। परन्तु उनको यह खबर नहीं होती है कि जगत्के हृदयपर भावि पंचम कालके जो पट हैं वे और कुछ नहीं हैं परन्तु खुदके हृदयांधकारकी प्रतिछाया है। जो उपदेश हित साधन प्रति लोगोंको देते हैं वही हित खुदके लिये उन्होंने कितना साधा है। वे अपने अंदरकी कमजोरीयोंको नहीं देखते हैं। खुदके अंतर शुद्धि और भावनाशक्तिकी पूर्णताके प्रमाणमें जगत् उनके परमहितके मार्गमें आ सकता है इस सिद्धान्तके विस्मरणपूर्वक उनका सब उद्योग होनेसे उनको पंचमकालका प्रभाव प्रतिक्षणमें घनी भूत होता हुआ मालूम होता है।

यदि ऐसा करोगे तो ही तुम्हारा कल्याण होगा और यदि ऐसा वर्त्तन रखोगे तो तुम्हारा उदय होगा। आजकल छाती ठोकर बोलनेवाले उपदेशकोंकी संख्या पहिलेसे अधिक है तो भी बहुत थोड़े मनुष्योंका ही क्यों कल्याण होताहै इसका जब विचार करते हैं तो मालूम होता है कि इसतरह कल्याणका उपदेश कर-

नेवालोंने क्या अपने उपदेशका जरा भी रंग अपने हृदयमें लगने दिया है। जो कुछ अपने मुँहसे कहते हैं उसका खुद पालन नहीं करते हैं और फिर उसके द्वारा संसारका कल्याण करने निकले यह कैसे बन सकता है। जिनको अपने परिपंथके कारणसे फरजीयात बोध देना प्राप्त हुआ है उनके लिये यह प्रवृति यंत्रवत् हो गई है इनसे श्रोतृवर्गपर इस भावका जो परावर्त्त होता है, वह भी असरहीन और मेघ धनुष्यके सदृश क्षणस्थायी होता है। इसके सिवाय जिसके हृदयमें कुछ न्यूनाधिक आनंद प्रकट हुआ करता है वे अपने निश्चयको आचारबद्ध करनेके लिये धैर्य और साहस नहीं करते और पहुंचनेके भी कोसमेंसे थोड़ेसे पाल भरे बाद थक जाते हैं और जो थोड़ेसे पाले भरते हैं इसको इतना अधिक मानते हैं कि उनके अंदर अनुभवका सूर्य सोलह कलाओं सहित प्रकाशित हो निकला है और उसका प्रकाश अपने दूसरे और अज्ञान भाइयोंको देनेके लिये वे कमर बांधकर बाहिर निकल जाते हैं। उस समय उनके अंदर इतना आवेश पैदा होता है कि जिसके द्वारा उनके मनमें यह विचार होता है कि आकाश पातालको एक कर दूँ। वे खाने पीनेको भी अपनी मूर्खाईके बेभानमें भूल जाते हैं और ताजियेके दिनोंमें फिरते जनूनी मुसलमानोंके सदृश अपनी पताकाको फहराते हैं और ढोलकीये बजाते २ वे फिरते रहते हैं। वे यही खयाल करते हैं कि मेरी देवी सत्ताका रंग सारे विश्वपर घड़ीके छट्ठे भागमें बैठ जायगा और जगत् मेरे निश्चयका अनुचरण करनेवाला बन जायगा। अक्सर तो वे यह भी मान लेते हैं कि यह आवेग उन्हें परमेश्वर अथवा इससे उत्तरोत्तर किसी दैवी सत्ता

की ओरसे प्रेरित हुआ है और उस सत्ताने हमारे द्वारा विश्वको सुधारनेका क्रम आरंभ किया है। परन्तु जब जगत् इनके सुखद निश्चयों पर मोहित नहीं होता है और न उस ओर रुजु होता देखते हैं इतना ही नहीं परन्तु जब उनको सुनहरी पुष्पो द्वारा बधानेवाला कोई भी नहीं आता है, तब प्रथम तो उन्हें आश्चर्य होता है कि क्या होनेवाला है? हमारी असाधारण तत्वकी बातें सुननेके लिये मनुष्य क्यों दौड़कर नहीं आते हैं? और किसीको मुद्दत तक न आता देख कर वे गुस्सेमें आजाते हैं और सारे विश्वको मूर्ख, अज्ञान, दुर्भग्य, पापमें मस्त रहनेवाले आदि सेकड़ों गालियें देने लग जाते हैं और अपने लाखों भाषणों और लेखोंमें ऐसा ही प्रयोग करते हैं और अपने आपको इस जगतके बाहिरकी वस्तुके होनेका डौल करते हैं और दूसरे सब विश्वको इस अंधार युगमें गिनते हैं अपने अधिक उद्योग पर भी जब वे जगत्का कार्य धीरि गतिसे उसके नि य क्रम पर ही देखते हैं तब वे जगत्के कल्याण करनेके विषयमें निराशवादी हो जाते हैं। हे उपदेशको! जरा वापिस फिर कर अपने अंदरकी भूमिकाका अवलोकन करो तो तुम्हें दीयेके मांफिक साफ रोशन हो जायगा कि तुम जिस निश्चय द्वारा जगत्को चलाना चाहते हो उसका तुम्हें जरा भी अनुभव नहीं है, तुम्हें अपने आपको अभी सेकड़ों तरहसे सुधारना बाकी है। दुनियां सुधार पर आनेको तैयार है परन्तु इसके पहिले तुम्हें सुधर कर आना चाहिये। फिर जगत्को सुधारनेके लिये तुम्हें अधिक बोध भी नहीं देना पड़ेगा। तुम्हारा चरित्र और आचार ही उनके लिये दीयेका कार्य करेगे।

इस परसे किसी पर आक्षेप करनेका आशय नहीं रखा है मात्र मनुष्यके हृदय गुप्त और निगूढ़तासे घर करके बैठी हुई एक त्याग करने योग्य निर्बलताको प्रकाशमें लानेका प्रयत्न किया है। प्रभुको कैवल्य प्राप्त हुए पश्चात् उन्होंने जिस श्रेणीसे उपदेश प्रवृत्ति शुरू की थी उसमेंसे भी अनेक शिक्षणीय अंश ग्रहण करने योग्य हैं न तो उन्होंने वर्त्तमान उपदेशकोंके नाईं दूसरेके छिद्र शोधनेका उद्योग किया था और न दूसरोंके धार्मिक वर्त्तन अथवा आचार विचार पर चोधारी खड्ग फिरानेका उद्योग किया था। विश्वका सर्वोत्कृष्ट कल्याण करनेके अर्थ ही उनके तीर्थंकर पदका निर्माण हुआ था तो भी उन्होंने निर्माणको सिद्ध करनेके लिये किसीको उपदेश पराने अथवा समक्ष मनुष्यकी अनिच्छापर देनेका प्रयत्न नहीं किया तथा उनके आचार विचारको बीचमें ही छुड़ाकर अपने बाड़ेमें आनेको लोगोंको नहीं ललचाये। उनकी *उपदेश पद्धति शान्त, रुचिकर, दुश्मनको भी हृदयस्पर्शी और मर्मग्राही थी तथा उसका आशय श्रोतृ वर्गके हृदयमें शीघ्र असर कर लेता था इतना ही नहीं परन्तु वह बिल्कुल सरल थी। प्रभुकी यह इच्छा नहीं थी कि संसार मेरे अभिप्रायके बराबर ही वर्त्तन करे और मेरे आशयके ही अनुसार चले कारण कि वे इस बातको अच्छी तरह जानते थे कि

---

* भगवानकी देशना प्राणी मात्रके लिये इतनी सरल और हृदय स्पर्शी थी कि उसको मनुष्यसे लगाकर पशु पक्षी आदि जितने जीव इस विश्वमें जन्म लेते हैं वे अपनी २ भाषाओंमें समझ लेते थे भगवान शहर, जंगल, और पहाड़ आदि अनेक स्थानोंमें संसारके सकल प्राणियोंके हितार्थ उपदेश किया करते थे। सूत्रकार कहते हैं कि उनकी सभाओंमें उनके उपदेशको सुननेके लिये तिर्यंच भी आते थे।

ऐसी इच्छा भी एक तरहकी निर्बलता है और वह मनुष्य हृदयके संठनके अज्ञानको सूचित करनेवाली है। सारी दुनियाने विवाद रहित विषय पर कभी मतभेद जाहिर नहीं किया और भविष्यमें नहीं करेगी। कहा जाता है कि उनकी पहिली देशना सर्वथा खाली गई थी अर्थात् उनके उपदेशके असरसे एक भी अन्तःकरण चलित नहीं हुआ था तो भी प्रभुने इस परसे दुनियाके हितकी चिन्ता नहीं की और न उसे किसीको जाहिर की। आजकल मतभेद और अनेक संप्रदायका प्रवाह चलता है त्यों उस समयके देशकालके स्वरूपके आश्रित प्रवाह अवश्यमेव चलता होगा कारण कि मनुष्यके हृदयका संगठन सब ही देशकालमें एक तरहका रहता है—सिर्फ उनके ऊपर प्रचलित भावनाओंकी छाप ही पड़ती है। आजकल हम अपने सामने मूर्त्ति पूजक और मूर्ति निंदक ये दो तरहके रूप एक दूसरेके आमने सामने स्थापित देखते हैं और सुधार करनेवाली और सनातनियोंकी छावणी अपनी २ हदको बचाकर सामनेवाली छावणीमें बाणी रूप गोले फेंकते रहते हैं। उस संबंधके अनुसार उस समय भी ऐसा ही अवश्यमेव था। मूर्त्ति माननेवाले ऐसी चिन्ता करते हैं कि मूर्त्ति नहीं माननेवालोंका प्रभुके यहां कितना बुरा हाल होगा उसको हम इस लेखनी द्वारा नहीं प्रदर्शित कर सकते हैं और हर तरहके यत्नसे वर्त्तमान अंधकार प्रदेशमें मुर्त्ति पूजाको प्रकाशमें लानेको प्रतिक्षण सजल नयनसे प्रार्थना करते हैं इनमेंका कुछ भी महावीर प्रभुके उपदेश प्रवृत्तिमें न था। मूर्त्तिके विरोधी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं। हे नाथ! शिमलासे लगाकर सेतुबंध रामेश्वर तक और द्वारकासे लाकर आसामके पूर्व कोने तक

सर्व मूर्तियोंको इस क्षणमें ही समुद्रमें डलवा दे तो ही हिन्दुस्तानका कुछ कल्याण हो सकता है, इसलिये हे प्रभु! इस गरीब हिन्द पर कृपा करके मेरी प्रार्थना पर अमल करो" मतलब ऐसा है कि अभी ही परमेश्वर आकार इस बेवकूफाईसे भरी प्रार्थनाको स्वीकार करे, इनके कहने अनुसार कर देगा। आवेशमें आकर वे कहते हैं कि प्रभु हमारी योजनामें मदद कर्त्ता होवे। जहाँ तक उनसे बन पड़ता है युक्ति पर युक्तिसे दो पाँचको अपने जैसे मूर्त्तिपूजाके विरोधी बना लेते हैं और मानते हैं कि थोड़े ही समयमें सारा आर्यावर्त्त हमारे करे हुए सत्यका अनुभव करके उनके सिद्धान्तका अनुचरण करने लग जायगा परन्तु जब वे अपने हृदयका रंग दूसरों पर चढ़ता नहीं देखते हैं और उत्साह रहित यानि साईके टट्टू समान संसारको ठण्डे आवेशमें चलता देखते हैं तब वे अपने आवेशमें प्रभुको दो पाँच गालियें दे मारते हैं और कहते हैं कि परमेश्वरको भी इस दुनियाका बड़ा राज्य चलाना नहीं आता। वे यह मानते हैं कि यदि परमेश्वरके पास हमारे जैसे दो पांच सलाहकार होते तो इतना अधिक अंधेरा नहीं होता। अरे! संसारको प्रकाशमें लानेके आवेशसे प्रेरित दयापात्र मनुष्यो! जरा आत्मस्थितिको समझो और पहिले अपना कल्याण करो।

कोई भी बात किसीके हृदयको अरुचिकर लगती हो और वह हमें चाहे कल्याणकारी प्रतीत होती हो तो भी उसको बलात्कारसे किसीके आगे रखना उससे इसको सत्य मनानेका प्रयत्न करना मानो ऐसा है कि तलवारके जोरसे अपना धर्म मनानेवाले पूर्वके मुसलमान राजाओंके समान ही कार्य है। दोनोकी कार्य

परस्परमें इतनी अधिक समानता है कि दोनोको एक दूसरेसे शाब्द ही चढते उतरते माने जा सके। एक स्थान पर फोलादके शस्त्रका उपयोग होता है तो दूसरे स्थानपर वाणीरूप हथीयारका ही उपयोग होता है। एकका आघात स्थूल शरीर होता है, तब दूसरे का प्रहार हृदयके मर्म भाग पर होता है। फर्क इतना ही है कि जब एकका घा न्यूनाधिक कालमें ही रुजता है तब दूसरेका मार्मिक घा मरण पर्यन्त और उसके बाद भव प्रवासमें भी अव्यक्तपनामें कायम ही रहता है। अपने निश्चय पश्चात् चाहे वह योग्य हो अथवा अयोग्य—दूसरेके हृदयमें बलात्कारसे उतारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य—अपना तथा समक्ष मनुष्यका अहित ही करता है। कभी अपना निश्चय उत्तम तथा हितकारक हो परन्तु समक्ष मनुष्यके हृदयमें उसको जबरदस्ती ठसाना अयोग्य है ऐसी प्रवृति उल्टा उसको उस उत्तम निश्चयसे अधिक और अधिक विमुख रखती है। इतना ही नहीं परन्तु उस समक्ष मनुष्यके हृदयमें उस निश्चय प्रति जो एक दफा दुराग्रह दृढीभूत हो जाता है तो वह उसको सीधेरूपमें यथायोग्य तौर पर देखना भी छोड़ देता है।

भयंकर शास्त्रोंसे जो युद्ध होता है और उसके द्वारा जो मनुष्य संहार होता है ये जितना अनिष्ट है उतना ही जो वाणीद्वारा युद्ध होता है, अनिष्ट है अथवा इससे भी अधिक निंद्य है क्योंकि स्थूल आघातका असर स्थूल देहमें ही परिसमाप्त हो जाता है, परन्तु वाणीके मार्मिक प्रहारका असर आत्माके अन्तःस्थ प्रदेश पर स्थायी संस्काररूपमें दीर्घकाल तक रहता है। हरएक लिये यह

अत्यन्त चाहने योग्य स्थिति है कि सारी पृथ्वीपरसे सकल युद्धका जमाना नष्ट हो जाय और सर्वत्र शान्तिका महाराज्य विस्तारित हो जाय तो इससे संसारका अधिक उपकार हो सकता है। इतना ही नहीं परन्तु मर्मभेदक वाणीके युद्ध बंद होकर आन्तरिक शान्तिको क्षुब्ध करनेवाले निमित्तोंके साधन इकट्ठे हो जाय तो अधिक अच्छा है। दोनोंसे होनेवाली हानी और उनके परिणाम एकसे ही दुःखद और अनिष्ट हैं।

ऐसा होनेपर आश्चय तो यह है कि स्थूल द्धको त्रास-दायक गिनकर उसको धिक्कारनेवाले विद्वान् वाणीरूपी युद्धमें उत्साहसे जुड जाते हैं और खुदको जो निश्चय अथवा सिद्धान्त सच्चा प्रतित हो और उसके सिवाय तमाम निश्चय और सिद्धान्त पर अपनी पंडिताइको ऊपर चढ़ाकर तथा जोशमें आकर अपने वाणीके शस्त्र सहित जनुनीकी नाइ टूट पडते हैं। खुदको जो बात सच्ची मालूम हो उसे प्रतिपादन कर देना अच्छा है सिवाय इसके हमे जिन सिद्धान्तोंमें कभी अच्छी बाते भास्यमान होती हैं तो उनको न्यायानुसार योग्य वाणीमें दर्शाकर वे बैठे रहे तो पूरेपूरा दुनि-याका हित ही करते हैं। परन्तु इसके साथ वे हजारो मनुष्योंके हृदयको अकारण बोलकर छिन्नभिन्न करके फेंकनेके कर्तव्यको भी एक ईश्वरीय फर्ज ही मानते हैं और सबसे अधिक आश्चर्य-की बात तो यह है कि जब मनुष्यके प्राणको अकारण हरनेवाला किसी राज्यका इतिहास निंद्य लिखा जाता है, तब पूर्वोक्त कथित विद्वान महा पुरुषके नाइ अथवा दुनियामें सत्यका स्थापन करके जानेवालेके नाइ पूजा जाता है।

महावीर प्रभुने इस बातका बिलकुल भी फिक्र नहीं किया कि मेरा समुदाय दूसरे संप्रदायके मुकाबलेमें संख्यामें पीछे रह जायगा। उन्होंने सिरफ अपने सम्बन्धमें आनेवाले मनुष्योंको अत्यन्त सरल, प्रेमभाव और मिष्ट वाणी द्वारा उनके अधिकार अनुसार घटित उपदेश दिया। महावीर प्रभुके अनुयाइओंकी संख्या गोशाला जैसे एक सामान्य प्रवर्तकके अनुयाइओंकी संख्यासे कम थी। इसपरसे यह ज्ञात होता है कि प्रभुने अपने अनुयायीओंकी संख्या बढानेकी ओर दूसरोंके बरोबर लक्ष नहीं रखा था। यदि उनका ऐसा आशय होता तो वे अपने अलौकिक सामर्थ्य द्वारा अपने अनुयायीओंकी बडी संख्या खडीकर सकते थे। परन्तु उनके चारित्रपरसे यह साफ विदित होता है कि उन्होंने अपने उपदेश रूपी जलके घडेको उठाकर बरोबर रखाकर उसे संसारको पानेका उद्योग नहीं किया प्रभुका यह एक अनुभव गत सिद्धान्त था कि दुनियाके हृदयमें अपने उपदेशको जबरदस्ती ठसाने से उसका वास्तविक हित नहीं हो सकता। कभी क्षणभर उपदेशके दीव्य प्रभावसे अथवा प्रतिभासे अंधे होकर मनुष्य उनका अनुसरण करे परन्तु इससे उनका स्थायी कल्याण नहीं हो सकता इसलिये जिस तरह मात्र लोक समुहमें सत्य प्रति रुचि उत्पन्न हो और उनके हृदयमें इष्ट उपदेश परोक्षमें उन्हे खबरबिदून अर्थात् उनके हृदयमें परिणमन हो जाय उसी शैली द्वारा प्रभुने काम लिया था। न संख्या अथवा सुमहत्पर प्रभुने कभी जोर दिया और न उसमें उन्होंने जनहितका जरा भी संकेत माना। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि संख्या यह कृत्रिम तौरपर जमे हुए धुंएके

बादलोंके बरोबर एक क्षणिक दृश्य है। उन्होंने न तो संख्यामें केवल धर्म्मकी गहराइ मानी और न धर्मका विस्तार माना।

लोगोंके हृदय प्रदेशपर सत्यका पट बिठानेकी ओर ही प्रभुका लक्ष था। गोशालाके नाइ संख्या बढानेकी ओर उनका लक्ष नहीं था। प्रभु परिणामदर्शी थे, संख्याको एकत्रित करनेवाला मनुष्य जब चला जाता है तब धुएंके गोठेके बादलोंकी नाइ चारो ओर बिखर जाता है और उसके पीछे कुछ भी चिन्ह अवशेष नहीं रहता है। संख्याका बल इकट्टा करना और लोगोंके हृदयपर कल्याणकी भावना अंकित करना यह बिलकुल भिन्न २ कार्य है। पूर्वका कार्य फतेमंदीसे करनेके लिये व्यवस्थापक शक्ति (organizing power) आदि लौकिक सामर्थ्योंकी अपेक्षा रहती है तब पीछला कार्य करनेके लिये जन कल्याणपर विशुद्ध और कुछ अलौकिक आशयके प्रभावकी आवश्यक्ता है। प्रभुने पूर्वके हेतुओंको गौणंतामें रखकर मात्र मनुष्यके वास्तविक और सच्चे हित की ओर विशेप लक्ष रखा था और जितना उनसे बन पडा उन्होने अपने अनुभूत सुखदाई सिद्धान्तोंको जन समाजके हृदयमें गहराइके साथ अङ्कित करनेका उद्योग किया था। आज हिन्दके चारो कोनोमें संख्याके बलमें श्रद्धा रखनेवाले गोशालेका अनुयाई ढूँढे नहीं मिलता और अब उसके सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ भी चिन्ह अवशेष नहीं बचा है तब मात्र जन हितकी चिन्ता करनेवाले प्रभुके *अनुयायी लोगोंकी संख्या कमसे कम पंदहरा

---

* यह खारवेलके समयमें भारतका राष्ट्रीय धर्म था यह इतिहाससे सिद्ध हो चुका है और अनेक राजाओंके कालमें यह राष्ट्रीय

जारी अभी मौजूद है जब कि बुद्ध जैसे एक समयमें ( अशोकके कालमें) समस्त हिन्दमें पर धर्म चक्रको विस्तारित करनेवाले दर्शनको आज हिंदमें खड़े रहनेका स्थान नहीं है तब जैन अपने धर्मकी भावनाकी गहराइके बलसे अनेक विरोध और विकट प्रसङ्गोंके बीचमें अभी तक दृढ़तासे अपने पैरोंको जमा कर खड़ा है इसका कारण मात्र प्रभुके उपदेश शैलीका ही था उनकी वाणीके अतिशयके सम्बन्धमें जो कुछ शास्त्र कहते हैं वह उनकी उपदेश शैलीका प्रभाव दर्शानेका मात्र प्रयत्न है।

एक समय प्रभु अपनी चरणान्याससे पृथ्वीको पावन करते २ राजग्रहीमें आये। वहाँ उन्हे गोशाला नामक एक मनुष्य शिष्य होनेकी ईच्छासे मिला। उस समय तक प्रभु किसीको शिष्यका करना नहीं स्वीकार करते थे। जहाँ तक मनुष्य अपना सर्वोत्कृष्ट कल्याण नहीं साध सकता है तब तक वह दूसरेका दारिद्र नहीं हर सकता है। प्रभु इन बातोंको सम्यग् तौरपर जानते थे अतएव उन्होंने गोशालाकी प्रार्थना स्वीकार नहीं किया तो भी वह प्रभुके सहवासको नहींछोड़ता था। वह अपने आप महावीरमें गुरू बुद्धिको स्थापित कर भीक्षा द्वारा प्राणवृत्ति करता था। उस सत्यकी कुछ जीज्ञासा थी। वह आत्मशक्तिके विकाशके लिये योग्य पुरुपार्थ करनेको तत्पर था। तो भी जिस समय प्रभु उपदेशके कार्यसे विमुख थे उस समय गोशाला महावीर प्रभुके पास अपने आप आया था और उसने जो बोध प्रभुसे अपने मनो कल्पनाद्वारा

---

धर्म रह चुका है। स्वामी दयानंद जो कि हरएक धर्मका कट्टर द्वेषी था उसने भी एक जगह लिखा है कि एक वह समय था जब जैन धर्मके माननेवालोंकी संख्या ४० करोड़ थी। अनुवादक।

ग्रहण किया था वह बिलकुल एक तरफी था जो आखिरमें अनिष्ट निकला। अपनी मति कल्पना और अज्ञानसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह अक्सर अहितकर हो जाता है। उसके लिये गोशालाका एक योग्य दृष्टान्त है। वह कभी २ भाविके बननेवाले प्रसङ्गोंके विषयमें पूछा करता था और प्रभु जो कुछ उत्तर देते थे उनको वह योग्य मानता था और उन्हीके आधार पर उसने यह निश्चय कर लिया कि जो कुछ बननेवाला है उसमें मनुष्यका प्रयत्न किसी कालमें कुछ नहीं कर सकता है और यही 'नियतिवाद' अनेक कारणोंसे उसके हृदयमें दृढ़ हो गया जिसको उसने जीवन पर्यन्त माना और इसी कारणसे वह थोड़े ही वर्षों बाद जैन धर्मसे विमुख हो गया और अपने स्वच्छंदको विस्तारित करने लगा। यही मुख्य कारण था जिससे उसके असल निंद्य स्वरूपको जैन ग्रन्थकारोंने दर्शाया है हम यहाँ पर इतना जरूर कहेंगे कि वह बुद्धिमान अवश्य था इतना ही नहीं साथमें वह पुरुषार्थी भी था अतएव उसने कई तरहकी विधाएं सम्पादन की थीं परन्तु जिस उलटे मार्गमें वह पड़ गया था उसीको वह अपने हृदयमें सबसे अधिक स्थान देता था। उसने अपने आप जो सिद्धान्त घडे थे वे सर्वथा जैनधर्मसे विपरीत थे। परन्तु यहांपर हमारा कहनेका यह आशय नहीं है कि उनके अंदर ग्रहण करने योग्य बातें बिलकुल नहीं थी अवश्य होगी। उसमें कुछ बातें ठीक होगी और कुछ २ लोकदृष्टिको रुचिकर भी होगी चाहे बाहिरी दिखावटी ही क्यों न हो। यही सबब था कि वह अपने सिद्धान्तों द्वारा अलग धर्म्मको स्थापित कर सका था। गोशालाको जिस रूपमें हमारे जैन ग्रंथकारोने हमारे सामने रुजु किया है उसी रूपमें

उसका होना स्वाभाविक है। क्योंकि पहिले वह प्रभुका शिष्य हो चुका था फिर उनको छोड़कर उनका प्रतिपक्षी हो गया और उनके सिद्धान्तोंको लोप करनेका उद्यम करने लग गया। कई तरहके शास्त्रों द्वारा उसने प्रभुके सिद्धान्तोंको लोप करनेका प्रयत्न किया होगा परन्तु जो सत्य है वे कैसे असत्य ठहर सकते हैं। वे ज्योंका त्यों कायम रहते हैं। सत्य के आगे झूठ कभी नहीं टिक सकता। श्रीमद् कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यने गोशालाका जो वर्णन किया है उसपरसे यह साफ मालूम होता है कि उसके करतुत ठीक वैसे ही होंगे। उसने अपने तप शक्ति द्वारा एक ऐसी शक्ति प्राप्त की जिसके द्वारा वह अपने अनुयायीओंकी संख्याकी वृद्धि करने लगा वह शक्ति क्या थी? उसको जाननेको हरएक दिल चाहता होगा 'तेजोलेश्या' इसके द्वारा उसने अपने अनुयायीओंकी संख्या बढ़ाई जिसको स्वयम् हमारे पाठक भी जानते हैं श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यने इसके लिये जो उल्लेख किया है वह ठीक है कारण कि वह स्वयम् प्रभुको हस्सी मजाक करता था और उनपर तेजोलेश्या फेंकता था कि वे ध्यानसे विचलित हो जाय।

*एक दफा किसी वासुदेवके मंदिरमें प्रभुने रात्रिवास किया वहां पर गोशाला भी आया। जिस समय वह आया था प्रभू ध्यानमें मगन थे। गोशालामें एक अवगुण था कि वह मजाक किया करता था और

---

* इस पुस्तकके मूल लेखक श्रीयुत सुशीलने अपने मूल पुस्तक गुजरातीमें लिखा है कि उस समय बौद्ध ग्रन्थोंमें ये बातें नहीं प्रतित होतीं। इसका साफ और स्वच्छ उत्तर यही है कि उसको जितना द्वेष जैन धर्मसे होगा उतना बौद्धोंसे न होगा और न यह अधिक उनके प्रसङ्गमें आया होगा जितना कि महावीरके प्रसङ्गमें आया है और वह महावीरका ही शिष्य था।

शान्त मुनियोंको दुःख देता था अतएव उसने [illegible] पर [illegible]सुकी मजाक की उन पर कई पत्थर आदि फेंके और बहुत उपद्रव किया इससे साफ विदित होता है कि उसमें अपूर्णता अधिक थी अतएव उसका मनोबल निर्बल था और इस निर्बलताके ही उसने अपना नया मत स्थापित किया था। अपूर्णताकी [illegible] अपने सिद्धान्तोंको इतने अधिक अच्छे नहीं बना सका [illegible] मनुष्य बिना किसी शंकाके ग्रहण कर लेता। यही कारण है कि आज उसके द्वारा प्रचलित आजीवक मत बिलकुल लुप्त [illegible] उसके मुख्य क्या सिद्धान्त थे उनके विषयमें भी कुछ [illegible] रहा और न कोई उनको जानता है कि [illegible] मनुष्य कहेंगे कि महावीर, बुद्ध और आजीवक [illegible] तक उसके अनुयायी मौजूद थे। जो कि प्रो० (Prof. Korn) का अनुमान है कि आजीवक मतवालेका स्थापक अपने गुरु महावीरका अनुकरण करके जीवदयाको श्रेष्ठ [illegible] इसके विषयमें [illegible] नामक एक विद्वान लिखता है—

"The history of the Ajivkas reveals the curious fact that sacredness of animal life was not the peculiar tenet of Buddhism alone but the religion of Sakymuni shared it with the Agivkas and the Nigranthas. They had some tenet in common but differed in detail. ....They were naked monks practising severe penances. We find Ajivkas an influential sect in exsitence even in the life time of Buddha. Mokkali Gosala was the teacher of the Ajivkas with

whom Gautam Buddha had a religion controversy.

अर्थात्:—आजीवकोंके इतिहासमेंसे हमें एक जानने योग्य बात मिलती है। जीवदया मात्र एकला बुद्धका ही सिद्धान्त नहीं था परन्तु आजीवकों और निग्रन्थों (जैनों) का भी यही सिद्धान्त था। अक्सर नियम इन सबके साधारण थे, मात्र वृतान्त और आख्यामें ही अन्तर था। आजीवक लोग शरीरसे लग्न रहते थे और बहुत तपश्चर्या करते थे। हमें इतिहाससे मालूम होता है कि आजीवक संप्रदाय बुद्धके वक्तमें एक प्रभाविक संप्रदाय था। मंखली गोशाला उनका नेता था और उसके साथ गौतमबुद्धको धार्मिक झगडेमें उतरना पड़ा था।

वर्त्तमान इतिहास अन्वेषण परसे मालूम होसकता है कि गोशाला एक प्रवर्तक था। परन्तु किसी कारण वशात् महावीर प्रभुके साथ मतभेद होगया अतएव वह पीछेसे उनका विरोधी होगया और इस मतभेदसे उस समयके महावीरके अनुयायीओंमें गोशालाके प्रति विरोधताका रंग लग गया होना चाहिये और यही रंग सांप्रदायिक परम्परासे क्रमगत होगया होगा और आखिरमें जब जैन सिद्धान्त लेखारूढ हुए तब उनमें इसको स्थान मिल गया होगा।

जब प्रभुने दीक्षा लेने पश्चात् आठ चातुर्थ पूर्ण किये और आठवा चतुर्थ मास भी राजग्रहीमें ही पूर्ण किया। पश्चात् प्रभुने अपनी परिचित भूमिकाका त्याग ही अच्छा समझा अतएव वे मित्रो, स्नेहीजनों और नित्य परिचानमें आनेवाले मनुष्योंके संसर्ग रहित प्रदेशमें विचरने लगे। अब तक प्रभु जहां २ विचरे थे वे सर्व प्रदेश उत्तम आचार विचारवाले मनुष्योंसे भरे थे। स्वयम् प्रभु एक राजपुत्र थे उन्होंने

जिस वयसे यह चारित्र गठित किया था उस वयमें पामरसे पामर मनुष्यको भी इन्द्रिय विलासका स्वाद मधुर लगता है। उसी वयमें उन्होंने संसार—त्यागका भीषण व्रत अंगीकार किया था इससे उनके कीर्त्तिकी सुवास वसंत अनिलके सदृश यह दिशामें विस्तारित हो गई थी। उस समयतक प्रभु जिन२ स्थानोंमें विचारे थे वहाँ पर उनका योग्य सन्मान और आदर हुआ था। हमारे जैन ग्रन्थकार बताते हैं कि इसपरसे प्रभुने यह विचार किया कि अभी मुझे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करना बाकी है और निर्दयी लोगों द्वारा शरीर कष्टका अनुभव किये बिना उन कर्मोंकी निर्जरा नहीं होगी। अतएव उन्होंने अनार्य भूमिमें विचरनेका निश्चय किया। प्रभुके चित्तमें उस समय क्या भाव होगा उसको कोई नहीं जान सकता। परन्तु इतना तो निश्चित है कि उनके आदरभूत इन प्रसङ्गोमेंसे हमारे लिये एक उत्तम शिक्षण उपलब्ध होता है। उस समय प्रभुकी आत्म-अवस्था तो ऐसी थी कि अत्र तत्र और सर्वत्र उनका चित्त समाधान-मय ही था। उनकी तमाम चर्या उदयाधीन और आत्म प्रतिबंध रहित थी। आर्य अथवा अनार्य उभय क्षेत्रोंमें उनका मन एकसा था। उन पर कोई पुष्पको चढ़ावे अथवा कोई अपमान अथवा कीचड़ फेंके तो भी उनका उभय आचरण जरा भी न्यूनाधिक नहीं था और न होनेवाला था तो भी प्रभु अपने परिचित प्रदेशको छोड़कर अज्ञात स्थानोंमें गति करनेको उद्युक्त हुए थे यह मात्र जगतको दृष्टान्तमय होनेके लिये ही था। खुदने जो आठ वर्षकी दीक्षित अवस्थामें लोक सन्मान प्राप्त किया था इससे सामान्य अन्तःकरण सुलभ अभिमानकी भावनामें पड़ जाता है परन्तु उनके हृदयमें उक्त

भावना ज़रा भी प्रकट नहीं हुई थी। कारण कि प्रभु तो उस बाल-भूमिको बहुत कालसे उल्लंघ चुके थे। परन्तु हमारे भावी अनुयायी दीक्षित वर्गको चाहिये कि प्रभुके दृष्टान्तका अनुकरण करके जहाँ उनको सन्मान मिले और परिचित संयोगोंकी प्राप्ति हो वहाँ ही न पड़ा रहे परन्तु सर्वत्र अत्र तत्र विहार करे। दीक्षितोंकी विचरण क्रिया सम्बन्धी एक सबल उदाहरण पूरा करनेके लिये वे आर्य और सभ्य समाजके निवास हदको उलंघकर जहाँ अधम और निकृष्ट प्रकृतिके लोग बसते थे वहाँ गये। संसारका सम्बन्ध छोड़े पश्चात् मोहके प्रबल निमित्तोंमें बसनेसे तो यही अच्छा है कि संसार त्यागका बाहिरी प्रवेश धारण करके स्व और पर आत्माको प्रवचनामें नहीं डालना ही अधिक अच्छा है। जगत्की प्रशंसा ही एक प्रबल वेगवाला प्रवाह है कि उसके पुरमें आये बाद बुद्धिमान भी अपनी सच्ची अवस्थाका भान भूल जाते हैं। यदि हमारे अंदर गुणोंकी कमी हो तो बाहिरी वेषसे अनुरंजित समाज उनको हमारे ऊपर आरोपित करता है और वह मुग्ध मनुष्य बहुत करके उस आरोपकी चमकसे अंधा होजाता है और उसको अपने अंदर स्वीकार कर लेता है इससे जगत्के अंदर एक महान् प्रतारणाका तत्त्व दाखिल होचुका है। आफतसे रक्षण करना यह एक सुकर और सुखसाध्य विषय है परन्तु प्रशंसासे बचना यह अत्यन्त दुष्कर और विषम है। अभिमानके दाखिल होनेके द्वार आत्माके हरएक प्रदेशमें होते हैं और जब यह आत्मामें भर जाता है तब आत्माके अंदर वायु भर जानेसे जैसी आत्माकी स्थिति होती है ठीक उसीके सदृश संविग्न आत्मामें

पैदा होजाता है। इससे वह मनुष्य आगे गति करनेसे रुक, जाता है। इधर उधरके मनुष्योंके स्तुतिरूप वजनदार माला उसके गलेमें मुश्किलसे निकलती है। आखिरी किस दर्जेको बुराई तक वह आत्मा खिंचा जाता है उसको हम यहाँ निश्चित नहीं कर सकते। इस समय मुख्य करके इस तात्विक मर्मका लोप हुआ मालूम होता है। आक्षेप करनेका हेतु नहीं है और ऐसा करनेका हमारा अधिकार भी नहीं है। परन्तु इतना तो कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रभुका अनार्य भूमिमें विचरण मात्र परिचित क्षेत्रमें विचरते हुए मुनियोंके सार ग्रहण करने योग्य है। अनार्यमें जाना ही लोग उपसर्ग क्षेत्रमें प्रभुका जाना मानते हैं परन्तु ये असलमें भी नहीं है परन्तु वे सन्मान, स्तुति और सत्कार अनुकूल उपसर्गोंसे बचनेके लिये गये थे। स्वके प्रति उद्‌भवित प्रतिकूल आचरण यह मात्र उपसर्ग नहीं परन्तु जिसके परिणामसे आत्मा शरीरमें गहरा उतर जाय वही सच्चा उपसर्ग है और बालहृदयके लिये स्तुतिजन्य अभिमानसे अनिष्ट कुछ नहीं है। ये बात अवश्यमें प्रभुके हृदयमें होनी चाहिये नहीं तो उन्हें अपने वर्त्तनसे जगतको कौनसा बोध पूरा करना इष्ट होता? तीर्थङ्करके जीवका एक बनाव भी निर्हेतुक नहीं होता उसके एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म व्यतिकरमें भी कुछ गहरा मर्म होता है और पुत्रके आर्य क्षेत्रमें विहाररूपी वर्त्तनसे ऊपर बताई हुई सिद्धियों सिवाय अन्य कुछ भी बोधक ध्वनि नहीं निकलती है और इसी बोधामृतको पान करनेका आशय ही होगा और हमें इसको स्वीकारना ही पड़ेगा। परिचित और श्रोतृवर्गके संकीर्ण प्रदेशकी सीमाके

आवरणका भेद न कर हमारा समुदाय प्रभुके इस आशयको सफल करेगा।

जिस समय आठवां चतुर्थ मास पूरा करके प्रभु म्लेच्छ अथवा अनार्य भूमिमें विचरे उस समय आर्य और अनार्यका भेद मात्र आचरण और सभ्यताके धोरण पर था। आर्य और अनार्य ये जो विशिष्ट वर्ग वैदिक युगमें थे वे प्रायः महाभारतकी लड़ाई बाद लुप्त हो गये थे मात्र नामावशेषरूपमें ही रह गये थे। आर्य और अनार्य इन दोनोंका विरोधी एक नया 'म्लेच्छ' शब्द व्यवहारमें आया था। जाति और वर्ग भेदका नाश होनेसे गुण और संस्कारमें उपस्थित भिन्नता आगे आ चुकी थी और वर्गजन्य अभिमान टूटकर गुण ही उच्चताका प्रमाण माना जाने लगा था। तो भी उस समयके ब्राह्मण जाति और वर्णजन्य विशिष्टताको कायम रखनेके लिये यत्न करते थे। परन्तु कृष्ण और पांडवों जैसे उदार दृष्टिवाले पुरुषोंके प्रतापसे इस संकीर्ण भावनाको दबकर बहुत समय तक रहना पड़ा था। जब ब्राह्मणोंकी स्थिति संरक्षण रूक (Oorthodox Tendencies) जोरमें आती तब वर्णके भेदको आगे करनेको वे नहीं चूकते थे तो भी मनुस्मृतिकार रूढ़ि संरक्षकको भी आर्य और अनार्यके कृत्रिम भेदपर ढांक पीछेड़ा करनेके वचन* लिख न पड़े। इसी परसे सिद्ध हो जाता है कि जाति और वर्गजन्यके भेदपरसे जनमंडलकी भावना मंद होती जाती थी।

---

* जातो नार्यामनार्यायां भार्यादार्यो भवेद् गुणैः।

अर्थात्—आर्य और अनार्य स्त्रीके उदरसे प्राप्त संतति भी गुणमें आर्य ही है।

जिसके लक्षण उत्तम हो वह आर्य चाहे वह वार्गिक दृष्टिसे कोई भी क्यों न हो और हीन संस्कार युक्त मनुष्य 'म्लेच्छ' शब्दसे सम्बोधित किये जाते थे। अनार्य शब्द जहाँ २ काममें लिया जाता था वहाँपर बहुत करके वह अशिष्ठताका ही सूचक था अर्थात् 'म्लेच्छ' शब्दके अर्थमें काममें लिया जाता था। 'म्लेच्छ' आर्य भावनाके विरोधी और द्वेषी थे और उनके हरएक कार्यमें विघ्न डालनेका प्रयत्न करते थे। प्रथम वे बहुत आर्योंकी वस्तीमें रहते थे परन्तु ज्यों २ आर्योंकी सत्ता बढ़ती गई त्यों २ उनको दूर प्रदेशोंमें निकाल दिये गये। महावीरके युगमें म्लेच्छ बहुत करके मगध, राजग्रही, वैशाली आदि सभ्य प्रदेश समूहके पूर्व और दक्षिणमें समुद्रके किनारे बसते थे। महाभारतकी आखिरी आवृत्ति हुई तब महावीर प्रभुके काल पश्चात् करीब दो सौ वर्षमें उपरोक्त प्रदेश अनार्य प्रदेशके तौरपर पहिंचाने जाने लगे×। ये म्लेच्छ प्रदेश आर्य प्रदेशसे बहुत दूर नहीं हैं और ऐसा ही हमें प्रतीत होता है:

× The Dravidians and the Vangas in the farthest South and the farthest east were still looked upon as non-Aryan people, which the people of Arya-varta delighted in calling themselves upon their Moral superiority to other races. (Epic India).

अर्थात्–दूरतम दक्षिण और पूर्व प्रदेशस्थ द्राविड़ और वंग (पूर्व बंगालके लोग अनार्य गिने जाते थे और आर्यावर्त्तके लोग अपने आपको आर्य शब्दसे सम्बोधित करनेमें आनन्द मानते थे और दूसरोंसे अपनी आध्यात्मिक उच्चताका अभिमान रखते थे।

पूर्वमें आसाम, दक्षिणमें और पूर्व बंगालमें उनका निवास होगा यही अनुमान होता है। कारण आर्य प्रदेशमेंसे म्लेच्छोंके देशमें और म्लेच्छोंके प्रदेशसे आर्योंके देशमें प्रभु थोड़े ही अर्सेमें आ सकते थे। नववाँ चतुर्थमास अनार्य भूमिमें पूरा करके शीघ्र ही वहांसे प्रभु सिद्धार्थपुरमें आनेकी हकीकत सुप्रसिद्ध है।

इन विहारके प्रसंगोंमें गोशाला प्रभुके साथ ही था वे एक प्रसंगपर कूर्म नामक गांवके नजदीक आये वहां गोशाला एक वैशिकायन नामक तापससे मिले। गोशाला उस ध्यानस्थ और सूर्यके सामने हाथ ऊंचे रखकर त्राटक किये हुए तपस्वीको उसकी क्रियाका मर्म उद्धतासे पूछने लगा. तो भी मुनिने बहुत समय तक उन अपमान भरे हुए शब्दोंको सहन किये और कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। गोशालाको इतने पर ही संतोष नहीं हुआ। उसने तापसके आचरणसे अत्यन्त ऊच्च प्रकारके तपश्चरणका प्रभुके अन्दर अनुभव किया था अतएव इस एकान्त कष्ट प्रति उसको अरुचि हो यह बात स्वाभाविक थी सभ्य और विनीत समाजके परिचयमें आर्य मनुष्यको जिसतरह जंगली मनुष्यका रहन सहन अच्छा नहीं मालूम होता है त्यों महावीर प्रभुके अत्यन्त प्रौढ़ चरित्र और उत्कृष्ट योगके सम्बन्धमें आनेवाले गोशालाको इस तापसकी ऐसी बाल तपस्वीताका अभिमत न हो यह भी स्वाभाविक ही था। परन्तु उसने जिस तुच्छतासे तापसको सम्बोधित किया था वह बिल्कुल अयोग्य था। उसनें अभिमान पूर्वक उसको पूछा " अरे तापस ! तु क्या तत्व जानता है? इस तेरी लम्बी जटासे हमें यह अच्छीतरह मालूम नहीं होता किन्तु स्त्री है या पुरुष?

गोशालाके लिये महावीर प्रभुके साथ बहुत समय तक रहनेसे यह जानना जरूरी था कि समक्ष मनुष्यपर हमला करनेसे वह अपना वर्त्तन नहीं छोड़ देता है परन्तु इससे उल्टा अपने मूल वर्त्तनके साथ अधिक लगा रहता है। चाहे जैसी अनिष्टकर वस्तु हम उसके हितके लिये सामनेवाले मनुष्यसे खिंचना चाहते हैं परन्तु वह उसको नहीं छोड़ता है इतना ही नहीं परन्तु हमारे इस खींच लेनेके प्रयत्नरूप वर्त्तनसे हम अपने इरादेसे उल्टा ही कार्य करते हैं अर्थात् भविष्यमें भी वह मनुष्य अपने अनिष्ट ग्राहकोंको कभी त्याग दें परन्तु ऐसा करनेसे उसको सदाके लिये त्याग करनेके संभवसे भी दूर कर देते हैं। हमारा बलात्कार सिर्फ अज्ञानतासे उसको यह सिखाता है कि यह अपने वर्त्तनपर अधिक जोरसे लगा रहे। गोशालाका इरादा तापसको सम्बोधित करनेमें चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो तो भी मनुष्य प्रकृतिके उपरोक्त रुखको उसने अपने लक्षमें नहीं रखा अतएव उसके इस तरहके सम्बोधनसे वह तापस उल्टा अपना उपशम स्वभाव जो कि उसने बहुत समयसे सम्हालकर रखा था गुमा बैठा और अत्यन्त क्रोधायमान होकर अपने तपके सामर्थ्यसे उसने अत्यन्त उग्र वन्हिज्वाला प्रकट की और उस अग्निको गोशाला पर प्रेरित की। गौशालाका शरीर अग्निसे जलने लगा और परित्राण करनेके लिये वह प्रभुके पास आया। प्रभुने इस तेजो लेश्याके सामने गौशालाकी रक्षा करनेके लिये शीतलेश्या रखी जिससे उस अग्निका सामर्थ्य नष्ट हो गया। प्रभुकी यह शक्ति देख कर वैशिकायन तापस उनके पास आया और प्रभुकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि

मैं आपके प्रभावको नहीं समझ सका। इसलिये मेरा यह आचरण क्षमा करें, प्रभु तो क्षमाकी ही मूर्ति थे उनको बदला तो लेना ही हीं था।

तपके प्रभावसे उद्भवित यह अमानुषी बनाव देख कर गोशाला आश्चर्यनिमग्न हो गया। अभी तक उसने ऐसा चमत्कार कहीं नहीं देखा था। मात्र शान्त सुधारसमय प्रभुके अलौकिक चरित्रका ही अनुभव किया था परन्तु इस तपोबलसे प्रकाशित देवी व्यक्ति करके उसने पहिले ही पहिल देखा। उसने प्रभुके रास्तेमें चलते २ पूछा "हे भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे प्रकट होती है? प्रभुने उसे इसकी विधि कही। गोशालाका आज कलके सैकड़ों ९९ मनुष्योंकी नाईं विधि सुनकर बैठा रहनेवाला पुरुष नहीं था परन्तु उसने विधिको अमलमें रख कर लब्धि प्राप्त करनेका दृढ़ निश्चय किया। जिस विधिसे गोशालाने यह विधि प्राप्त की वही विधि अब भी ग्रन्थोंमें उपलब्ध है मात्र कर्त्तव्यपरायण पुरुषोंकी ही कमी है।

कूर्म गांवसे प्रभु गोशाला सहित सिद्धार्थपुर गांवकी ओर गये परन्तु गोशालाकी इच्छा तेजोलेश्या प्राप्त करनेकी ओर बढ़ती जाती थी। इधर उधरके समुदायको अजायबीमें डालनेवाली महालब्धि प्राप्त करनेकी इच्छा उसके एक २ रोममें व्याप्त हो गई। विधि तो उसने प्रभुके पाससे प्राप्त कर ली थी अतएव वह श्रावस्ती नामक गाँवमें प्रभुसे अलग हो गया और छः मास पर्यन्त उस गाँवमें निवास करके प्रभुकी बताई हुई विधि अनुसार तपश्चरण करके तेजोलेश्याको सिद्ध की। तपके सामर्थ्यसे यह प्रभाव प्राप्त

हो सकता है इसमें कुछ भी शक नहीं है। तप अर्थात् इच्छाका निरोध। हमारे मनका सामर्थ्य इतना तो निरवधि है कि यदि यह सामर्थ्य अनेक तरह इच्छा, कामना, वासना और झगड़े टंटेमें न लगता रहे तो वह मानुषी आवश्यकीय कार्य करनेको शक्तिमान है। इच्छा (Desire) और संकल्प (Will) में अन्तर मात्र इतना ही है कि इच्छा बल अलग बिखरा हुआ होता है तब संकल्पका बल केन्द्रीभूत होकर इष्ट प्रयत्नमें ही नियुक्त रहता है। छुटी छवाइ और भिन्न२ उड़ती इच्छाओंकी शक्तिको संयममें रखकर उनका निरोध किया जाता है उसको तप कहते हैं। तत्वार्थसूत्रकार भी तप * के स्वरूपको इसीतरह दर्शाते हैं। व्यवहार तथा परमार्थमें विजय प्राप्त करनेका रहस्य एक ही है और वह यह है कि खराब इच्छाद्वारा नष्ट होते बलको एकत्रित करके उसको लगाना ही है। इस ओर सहज प्रयत्न करनेवालोंको हम उत्तम और उत्तम परिणाम प्राप्त करते हुए देखते हैं तो फिर गोशाला जैसा पुरुषार्थी पुरुष छः महीने तक अपनी इच्छाओंका संग्रह विधिपूर्वक कर उस एकत्रित सामर्थ्यको अग्निके रूपमें परिणमन क्यों न कर सके? इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि मनोद्रव्य यह अत्यन्त वेगवान और सूक्ष्म शक्ति (Fine Force) वाला है। शिक्षित संकल्पबलसे उस द्रव्यको अग्निरूपमें परिणमन कर सकते हैं।

सिद्धिको प्राप्त किये पश्चात् बहुत प्रसंगोंपर मनुष्य अपनी पूर्ववत् चित् निर्मलता नहीं रखता है उसका स्वार्थी और पशुत्वका

---

* इच्छानिरोधस्तपः

अंश स्फुरायमान हो जाता है। गोशाला इतनी सिद्धिपर ही महावीर स्वामीकी बराबरी करनेका विचार करने लगा। महावीर भविष्यमें सर्वज्ञताको प्राप्त करके तीर्थंकर होनेवाले थे यह बात वह अच्छीतरह जानता था। खुदके अंदर सर्वज्ञताकी कमी थी इस कमीको वह पूरा करनेके लिये उसने पार्श्वनाथ प्रभुके चारित्र भ्रष्ट कितनेक शिष्योंके पाससे अष्टांग निमित्त ज्ञान प्राप्त करलिया और इतनी ही योग्यतासे वह अपने आपको जिनेश्वर कहलाने लगा।

इस तरफ प्रभु विहार करते२ पेढाला गाँवके नजदीक आये वहाँपर प्रभु एक शिलातल पर जानु तक भुजाको लम्बी कर चित्तकी स्थिरतापूर्वक अनिमेषपनमें एक रुक्ष द्रव्यपर दृष्टिको जमाकर कायोत्सर्ग भावमें समाधिस्थ खड़े हो गये। उस समय प्रभुकी परम चारित्रमय अवस्था सौधर्म्य देवलोकके इन्द्रने अवधिज्ञानसे देखी और अपना हृदयगत विशुद्ध भक्तिभाव देवोंकी सभामें जाहिर किया। प्रभु तो परम अव्याबाध स्थितिको प्राप्त करनेके क्रम पर थे। इन्द्र इस बातको अच्छीतरहसे जानता था कि प्रभुकी स्थिति हमारे पदसे अनन्त गुणा श्रेष्ठ थी और महावीर प्रभुके उत्तरकालीन—भविष्यमें प्राप्त होनेवाले सुखकी कक्षा और प्रमाण और प्रमाणऐन्द्र सुखका दर्जा ही प्रमाणसे अनंत गुणा उच्च था। जो सुख परिणाम अन्तमें दुःखमय है और सुखकी स्मृतिमें दुःख ही है वह सुख वास्तवमें सुख नहीं है। इन्द्र इस बातको अच्छीतरहसे जानता था अतएव उसको अपनी स्थितिमें सुखमयता मालूम होती थी। अब वह उसे नहीं मालूम होने लगी। और प्रभु जिस राहमें थे वही सच्चे सुखका मार्ग उसको प्रतीत हुआ। उसका प्रत्येक रोम प्रभुके प्रति

भक्तिभावसे पुलकित हो गया। उसने पृथ्वी पर अपना सिर लगाकर प्रभुकी चक्रस्तवसे मनोमय स्तुति की। क्षणभरमें उसके वैभवका अभिमान जाता रहा। उसको अपने दुःखी पर्यवासी वर्त्तमान सुखकी क्षणिकता खिचने लगी। प्रभु उन्नतिकी अखिरी भूमिकाकी ओर आते थे यह देखकर उसका हृदय हर्ष और अनुरागसे गद्गदित हो गया। भक्तिमें नियमसे दो तत्त्व होते हैं— एक स्व की प्राप्त स्थितिमें अपूर्णता होकर पार हो चुके हैं उसकी सम्यग् तोरपर पहिचान। भक्त हमेशा भक्ति करते समय अपनी लघुताको स्वीकार करता है। स्थूल दृष्टिसे देखते कहाँ प्रभुका जर्जरित शुष्क रसहीन शरीर और कहाँ इन्द्र देवका पुण्य प्रतिभाके प्रभावसे सारे विश्वको मोहित करनेवाला देवी शरीर! कहाँ प्रभुकी निर्ग्रन्थ निष्किंचन अवस्था और कहाँ इन्द्रका अवधि रहित स्वर्गीय वैभव? चीटी जैसा क्षुद्र जंतु भी जिस निर्भयतासे रुधिरको चूस सकता है ऐसी कहाँ वीर प्रभुकी नम्रता सौम्यता और दीनता? करोड़ों देवोंके परिवारसे परिवृत भोगकी मूर्तिरूप इन्द्र कहाँ? परन्तु आत्मदृष्टिसे प्रभुका अधिकार इन्द्रके अधिकारसे अनंतगुणा श्रेष्ठ था। ज्यों प्रकाश और अंधकारका मुकाबला बन नहीं सकता त्यों इन दोनोंके अधिकारकी भी तुलना नहीं हो सकती कारण कि उभयका स्वभाव गुण और धर्म ये सब भिन्न हैं। इन्द्रको इस अलौकिक दृष्टिका स्वरूप लक्ष्यगत था कारण कि उसके स्थूलताके पड़ स्थूल ज्ञानके प्रभावसे निकल चुके थे।

इंन्द्रने सभाके बीचमें ही जो प्रभुके ध्यानकी, निश्चलताकी, तथा प्रतिबंधताकी स्तुति की तब देवोंको बहुत आश्चर्य हुआ? और

उनमेंसे एक संगम नामक दुष्ट देव प्रभुकी प्रशंसाको नहीं सुन कर और कहने लगा कि एक निर्बल मनुष्य इन देवकी इतनी प्रशंसाका पात्र कैसे हो सकता है! यह बात मुझसे सुनी नहीं जाती। प्रभुके अंतस्थ प्रभावके स्वरूपको बाहिरी दृष्टिवाला संगम नहीं समझ सकता था। अतएव वह कहने लगा—अतुल और अमित पराक्रम युक्त हैं और हमें जन्मसे प्राप्त सिद्धियोंके आगे एक क्षुद्र मनुष्यकी क्या गिनती है? यह विचार कर वह गर्जता हुआ प्रभुके पास आया।

संगमने प्रभुको छः महीने पर्यन्त जो असह्य कष्ट दिया था उसका वर्णन पढ़ते २ हमारा हृदय कांप उठता है। अनेक तरहके महातीव्र और विषययुक्त जंतु पैदा कर उनके द्वारा प्रभुको कष्ट देनेमें कुछ भी कमी नहीं रखी परन्तु उस निष्कार जगत् बंधुके आखोंमें जरा भी क्रोधकी ललाई नहीं दिखाई दी। जो प्रभु एक संकल्पके स्फुरण मात्रसे सारे विश्वको विखेरनेको समर्थ थे वे ही प्रभु संगमकी धृष्टताको आत्मामें कुछ भी खेद किये विना अव्यग्र भावसे सहन करते थे, कारण कि सहना यही उच्चगामी आत्माका महाव्रत होता है। कर्मफलदात्री सत्ताके महानियमकी गतिमेंसे छूटनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। इस विषयको प्रभु अच्छी-तरहसे जानते थे। इस विश्वमें किसी भी तरहका जो कष्ट होता है उसके कारण आत्मा पहिलेसे ही गतिमें रख देता है। विना कारण कार्य नहीं हो सकता। संगमने प्रभुको इतना दारुण घोर परिषह दिया। यह क्या निष्कारण था! नहीं! नहीं था। प्रभुने पूर्वमें इसके लिये कुछ अवश्य किया होगा। एक क्षुद्र जंतुको अथवा उस महान् महान् कोटिके मनुष्य अथवा देव पर्यन्त जिसको सुख

दु:खादि प्राप्त होते हैं उनके सुख दु:ख उनके पूर्वकी योग्य अथवा अयोग्य कृतिसे ही मिलता है। सुख दु:खके कारण उनके कर्मके सिवाय दूसरे कुछ नहीं होते। कृतनाश और अकृत आगमका अंधा नियम कर्म फलदात्री सत्ताके यहां नहीं चल सकता क्योंकि वहां अंधेर नहीं है और यह अनादि सिद्ध नियमका उल्लंघन करनेको देव, दानव, मनुष्य अथवा ईश्वर भी समर्थ नहीं है! कभी हमें निर्दोषको दु:ख और सदोषको सुख मिलता मालूम होता है परन्तु यह मात्र अपने अल्पज्ञताका ही परिणाम है। जिसको जब२ शुभाशुभ परिणाम मिले हैं उसके लिये वे लायक थे तब ही मिले हैं। विना कसूरके न्यायाधीशके हाथसे फाँसी देनेके कईएक उदाहरण बनते हैं। यह सामान्य कहावत है कि वह मनुष्य फाँसीके लिये अयोग्य था परन्तु वह मारा गया यह नहीं होसकता। कौनसा कर्मफल कब और किस तरह मिलता है उसको हमारे चर्मचक्षु नहीं देख सकते हैं। इसलिये हम अकेले होकर बोल उठते हैं कि वह बेचारा निर्दोष था परन्तु मारा गया।

यह हमारे स्मृतिमें होना चाहिये कि इस विश्व व्यवस्थामें एक तिल मात्र भी अंधेर नहीं निभ सकता है। प्रत्येक मनुष्यको जो सुख अथवा दु:ख मिलता है उसके लिये वह योग्य ही है इसलिये वह उसको मिला ही करता है। सृष्टिके आदिसे आज तक एक भी मामला ऐसा नहीं हुआ कि जो कारण बिदून हुआ हो अथवा होने योग्य न हो और हुआ हो। फांसी पर लटका जानेवाला, तोपके मुँहसे उड़नेवाला, तलवारसे कटकर मरनेवाला, जलके बहावमें मरनेवाला और अग्निमें मरनेवाले आदि इन सबकी

मृत्यु अपनी २ कृति द्वारा ही उपार्जित होती है इस अप्रतिहत कर्मके नियमसे आत्माका रक्षण करनेको कोई भी समर्थ नहीं है।

संगमके निमित्त द्वारा प्रभु अपने उपस्थित कष्टका वास्तविक कारण जानते थे अतएव उन्होंने संगमपर क्रोध नहीं किया। वह वेचारा कर्मके महा नियमका हथियार था। कष्टके कारणोंको प्रवृत्तमान करनेवाले वे खुद थे। इस परसे साबित होता है कि क्रोधका करनेवाला अपना आत्मा ही होना चाहिये। पहिले (पूर्व भवमें) खुदमें खुदके ही गतिमें रखे हुए कारण फलरूप होनेमें संगम तो मात्र साधन ही था और इससे वह प्रकृतिका हेतु सिद्ध करनेमें मददगार था। हम प्रभुकी स्तुति करते हैं वह इसलिये कि उपरोक्त नियमोंको लक्षमें रखकर एक प्राकृत मनुष्यके सदृश संगमपर वे कोपायमान नहीं हुए थे और अन्याकुलतामें गतिमान हुए। कारणोंको अपने आत्माके भोग द्वारा उनको क्षय करनेमे समर्थ हुए। इस अवसर पर एक सामान्य मनुष्य क्या करता? और प्रभुने क्या क्या किया? इसकी जब हम तुलना करते हैं तब प्रभुकी परम अव्यग्र और अनाकूल चित्तकी स्थिति प्रति हृदयका विशुद्ध भक्तिभाव स्फुरायमान हो जाता है बनने योग्य है इसलिये ही बना है' यह इतना अधिक प्रसिद्ध है कि चाहे कितना ही अज्ञान मनुष्य भी इससे अवश्य परिचित होगा और यह बात उसके जाननेमें अवश्य होगी। परन्तु इस प्रकार बहुत ही थोड़े वीर आत्मा इस नियमके ज्ञानको सफल कर सकते हैं? धन्य है महावीर प्रभुको जिन्होंने इन विकट प्रसंगोंपर भी धैर्यका त्याग नहीं किया और संगमकी ओर अखीरतक सम-

भाव ही रखा और कर्मकी उदयमान गति प्रति उन्होंने अपने द्वेपका प्रत्याघात न किया, अखीरतक चित्त समस्थितिको कायम रखी। यदि वे चाहते तो संगमके प्रसंगसे क्रोधायमान होते, इतना ही नहीं परन्तु संगमको उसकी निर्दयताका बदला दिया होता परन्तु यहाँ ही प्रभुको प्रकृतिके महा नियमके सामने संगमसे बड़ी बलवान सत्ता रोकनी पडती। जहाँतक ऐसा अवसर नहीं प्राप्त होता वहाँतक प्रभुको उसका बदला लेनेके लिये संसारमें रहना पड़ता। उसके साथ२ कुदरतके यह नियमकी गतिमेंसे छुटनेके प्रयत्नमेंसे अन्तर्गत चित्तकी स्थिति रागद्वेष युक्त उपस्थितिसे ही उसका आत्मसामर्थ्य भी घट जाता और इससे अपनी प्राप्त विशुद्धिको एकदम खो बैठते। ज्ञानी जन इस बातको अच्छीतरहसे देखते हैं कि लाभ किसमें है ? संगमके परीषहसे बचनेमें जो उन्होंने लाभ देखा होता तो ऐसा कहना उनके लिये बड़ा सुलभ था परन्तु आखीरमें ऐसा करनेसे उनको कितना गैरलाभ होता। इसके बारेमें हम ऊपर पढ़ आये हैं। प्रभुका प्रभुत्व संगमके उपसर्ग समभावसे सहनेमें ही समाया था। जिस समय संगमद्वारा प्रभुपर भिषण कष्टकी वर्षा हो रही थी उस समय इन्द्र भी इस कष्टसे अज्ञात न था और यदि उसने चाहा होता तो संगमके कष्टसे प्रभुको बचाये होते। परन्तु ऐसा नियम है कि उच्च श्रेणिगत आत्माकी इच्छाका सारा विश्व अनुकरण करने लगता है। प्रभुकी इच्छासे इन्द्रकी इच्छाका विरोध नहीं हो सकता था यह सब कुछ इन्द्र देखता था और भक्तिके बाहुल्यसे उसका हृदय अत्यन्त दुःखी था। परन्तु कर्मकी गतिको उसके एक तसु परसे भी हटानेको

वह अशक्त था। उसने संगमके उपसर्गसे प्रभुको बचानेका कुछ उपाय किया होता तो उल्टा प्रभुको उनका पूर्णत्व प्राप्त करनेमें वह अन्तरायभूत होता इसलिये निरुपाय दुःखित चित्तसे इन उपसर्गोंकी परम्पराको उसके लिये देखना ही बदा था और दूसरा उसके पास कोई उपाय नहीं था।

संगमने प्रभुको जो कष्ट दिये थे उनमेंसे हमारे लिये एक अत्यन्त सुंदर शिक्षण उद्भवित होता है। आदर्श पुरुषोंके जीवनमें सबसे अगत्यका शिक्षणीय विभाग मात्र ही उनके महत कर्त्तव्य नहीं हैं। परन्तु उनके छोटे परोक्ष प्रसंग भी अत्यन्त बोधदायी होते हैं। संगमने प्रभुको जिस क्रमसे क्लेश दिया था उसपरसे मालूम होता है कि वह मनुष्यके हृदयके गुह्य मर्मोंका उत्तम ज्ञाता होना चाहिये। प्रथम उसने प्रभुको ध्यानसे भ्रष्ट करनेके लिये शारीरिक वेदना देना शुरू किया और ज्यों २ उसमें वह निष्फल होता गया त्यों २ वेदनाको प्रबलतर और तीव्रतर करने लगा। मनुष्यकी कल्पक-शक्ति विनाशके जो २ साधन योजित कर सकती है उसने उन सबको प्रभुके ऊपर लगानेमें कुछ भी कमी नहीं रखी। आखीरमें एक लोहेका भारी वजनदार गोला उठाकर उसको प्रभुके सिरपर फेंका। इसपर यह प्रसिद्ध है कि उसके आघातसे प्रभु जानु पर्यन्त पृथ्वीमें घुस गये। इस परसे भी उनके दिव्य तनुको हानि नहीं पहुँची। तब यदि उस स्थानपर संगमसे न्यून मतिप्रकर्षवाला देव अथवा मनुष्य होता तो अवश्य निराश होकर वापिस आता। परन्तु संगम मनुष्यके अन्तःकरणका गहरा अभ्यासी था। मनुष्यके

हृदयकी निर्बल बाजुओंको वह पहिचानता था। कौनसे मर्मका आश्रय लेनेसे सामान्य मनुष्य अपने वशीभूत होगा आदि रहस्योंको वह भली प्रकार जानता था। अक्सर महान् मनुष्योंके भी हृदयके कुछ अंश निर्बल और स्पर्शवेद्य होते हैं। यदि उसका उस ओर स्पर्श किया जाय तो वे शीघ्र ही हार जाय। जब संगमने यह मालूम किया किकष्टसे प्रभु अपने क्रमपरसे चलित नहीं होंगे तब उसने प्रभुके शरीरपरसे अपना व्यापार छोड़ दिया और मानस प्रदेशपर अपनी युक्तियाँ अजमाने लगा और उसके साथ २ उपसर्गोंका स्वरूप भी बदल दिया। उसने देखा कि कष्ट वा असाताका जोर प्रभुको जीतनेमें समर्थ नहीं हैं। इसपरसे उसने यह निश्चय किया कि प्रतिकूल और दुःखद उपसर्ग देनेसे मनुष्य उल्टा अधिक उन्मत्त और सावधान हो जाता है और अपने व्रत अथवा वर्चसको कायम रखनेके लिये चतुरतासे बचाव कर लेता है। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि प्रत्यक्ष सामने हमला करनेसे दुश्मन सम्हल जाता है और बचाव बहादुरी और होशियारीसे कर सकता है। इसपरसे संगमने अनुकूल उपसर्गोंका मार्ग पकड़ा। यह उपसर्ग ऐसा था कि वहां प्रभुसे कुछ न्यून हृदयवाला तथा न्यून शक्तिवाला होता तो वह उसके जालमें अवश्यमेव आजाता। संगमका प्रयत्न प्रभुको उनकी परमात्म स्वरूप प्रतिकी एकतामेंसे भ्रष्ट करनेका ही था और इसलिये उसने इन अनुकूल उपसर्गोंको आखिरमें प्रबलतासे परीक्षा करनेके लिये रखे थे। वह यह बात अच्छी तरहसे जानता था कि दुःखके प्रसङ्गमें दृढ़ रहनेका मनुष्य हृदयका वेग स्वाभाविक होता है परन्तु सुखके उपकारणमें और प्रलोभनोंकी सामग्रीसे

परिवेष्टित स्थितिमें वह बहुत सरलतासे ठगा जाता है। इन्द्रिय सुखोंके सुभीतेमें एक ओर प्रबल आकर्षक शक्ति है कि दुःखके प्रसङ्गोंसे अधिक मनुष्यका हृदय उसमें फस जाता है। दुःख मनुष्यको मजबूत और टट्टार रख सकता है परन्तु सुख उसको निर्बल और नालायक कर देता है। प्रतिकूल संयोगमें जो अपनी टेक और प्रतिज्ञाको सम्हाल कर रखते हैं वे अनुकूल संयोगोंमें अति शीघ्र ही अस्थिर मनवाले होजाते हैं और व्रत भ्रष्ट होजाते हैं इसके उदाहरण मौजूद हैं। दुःखके संयोगोंमें एक ही कर्त्तव्यके लिये अनुकूल स्थिति है इससे प्रतिकूल उपसर्गसे अपने उद्देशमें निष्फल संगमने अब अनुकूल उपसर्ग रचने शुरू किये। उसको सम्पूर्ण विश्वास था कि विषयके स्वरूपकी मोहक मिष्ठताके सामने मनुष्य प्राणीकी शक्ति नहीं कि आखिरमें वह जालमें आये विना न रह सके। अढ़ाई वर्ष पहिले भी स्पर्श इन्द्रियके विषयका आकर्षण जनहृदयपर जितना आज प्रबल है उतना ही प्रबल था। संगम यह जानता था कि चाहे कैसा ही मनुष्य क्यों न हो वह विषय सुखका गुलाम हो जाता है और सब विकट प्रसङ्गोंमें निश्चल और अडग वीर नर भी इन्द्रियके विलासका रस चूसने लग जाता है। आत्मा अनादिकालसे इन्द्रियके विकारमें कुछ ऐसा विलक्षण माधुर्य अनुभव करता है कि एक दफा उसकी मर्यादाके अंदर आने पश्चात् उससे छूटनेका संभव अधिक अधिक न्यून होता जाता है। एक दफा उस विचारमें मन चिपक जाता है फिर उसमेंसे उसके लिये उड़ना मुश्किल होजाता है इसलिये प्रभुके सच्चे भक्त सदा दुःखी अवस्थाको ही पसंद करते

हैं। जो महात्मा परमात्मस्वरूप प्राप्त करनेको समर्थ हैं,, उनके लिये इस तरहका वैभव प्राप्त करना बड़ी बात है परन्तु उनकी ईश्वर प्रति सबसे पहिले यही प्रार्थना होती है कि हे नाथ! मैं दुःखमें अपना स्वत्व सम्हालनेको समर्थ हूँ परन्तु अनुकूल और वैभवयुक्त स्थितिमें कदापि मैं मेरा वृत्त गुमा बैठूं। मुझे इस बातका ही सततू भय है इसलिये मुझे इस परिस्थितिसे बचा लो। संगम इस निर्बलताके स्वरूपको जानता था और आखिरके प्रयत्नरूप उसने प्रभुको विषयके माधुर्यकी ओर खीचकर उनका योग भ्रष्ट करनेकी तजवीज करने लगा। प्रथम उसने अपनी दैवी सत्तासे वृक्षलता, व फूलको प्रफुल्लित की और पत्रपुंजसे वृद्धिको प्राप्त विपुल वसन्तऋतुको पैदा की, साथ २ अपना प्रचंड साहस प्रकाशित करने लगा और ललित ललना कुलके वदन कमलोंका अनुसंधान किया इतनाही नहीं परन्तु साथमें रति पति भी प्रकट कर दी। अपने अनुपम सौंदर्यकी भ्रकुटीसे विश्वको विमोहित करनेवाली अनेक रमणिएँ प्रभुके चारो ओर फिर गई और रास मंडलको जमालिया। विविध हावभाव, नये २ दृष्टिभाव और मोहक अंग विक्षेपसे वे अपने सुरत संकेतको विस्तारित करने लगीं। विविध तरहके मिषोंसे वे अपने वस्त्रोंको चलित करती थीं और शिथिल केशपातको सुदृढ़ करनेके बहाने वे अपनी भुजाओंको ऊंची करके प्रभुको विमुग्ध करनेका जाल बिछाने लगी। किसी बालाओंने मन्मथके विजयी मंत्र शास्त्र जैसा दिव्य संगीत गाना शुरू किया और कोई प्रभुको गाढ़ आलिंगन देकर दीर्घकालके वियोग जन्य आतापको शान्त करनेकी चेष्टा करने लगी। परन्तु संगमको यह खबर नहीं थी कि जिस आत्मापर

वह अपनी सब युक्तियोंकी अजमाइश करता था वह कोई साधारण सन्यासी अथवा संसारसे भगा हुआ भीरु मनुष्य नहीं था। संसारके इन्द्रजालमें ठगे जानेवाली भूमिकाको वे बहुत कालसे उल्लंघ चुके थे। विषयोंके सामर्थ्यको पराजयको तो उन्होंने संसारमें ही साधा था, पश्चात साधु हुए थे। संगमका आखिरमें कुछ नहीं चला। वह प्रभुको चलित करनेकी अपनी प्रतिज्ञामें आशाभग्न हो चुका। उसने देखा कि प्रभुके चित्तका एक भी अंश निर्बल नहीं कि जिसके द्वारा वह उनके अंदर प्रवेश करके उनका योग भ्रष्ट कर सके। महा पुरुष अपने वर्चसके रक्षण के लिये पहिले तो विषयके दाखिल होनेके सब द्वार बंद कर देते हैं। वे जानते हैं कि किलेमें एक स्थान पर फाड़ पड़ गया तो सारा दुर्ग विना गिरे हुए नहीं रहेगा। वे नित्य अप्रमत्त उपयोगसे अपनी विशुद्धिका रक्षण करते रहते हैं। उनको आसक्तिके स्वरूपका ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होता है कि मोहिनी मैया चाहे जैसा वेश धारण करके उनके अन्तर द्वारमें प्रवेश करनेका मार्ग शीघ्र लेती तो भी वह उसमें विजय प्राप्त कर सकती। परन्तु महावीर प्रभु तो महान् कोटिके पुरुषवर्य थे। संगमकी ये युक्तिएँ बिन अनुभवी और कच्चे योगी पर सफलता कर सकती थी। परन्तु प्रभु पर उसका सब उद्योग निष्फल गया। वह म्लान और आशाभग्न मुँहको छिपाकर अपने स्थान पर चला गया।

इसपरसे हमें यह स्पष्ट मालूम होता है कि अनुकूल संयोगोंमें हमारी विशुद्धिका संकल्प निभाना, प्रतिकूल संयोगोमें निभानेसे अधिक तर मुश्किल है। जो इन प्रलोभक प्रसंगोमें अपनी

विमलताको सम्हालते हैं वे ही सच्चे विजयवान और सामर्थ्यके सच्चे दृष्टान्त हैं। विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

प्रभु वहांसे विहार करते२ एक दफा वैशालीमें आये। वहां एक जिनदत्त नामक दयालु और सद्गुणी श्रावक रहता था वह गरीब था, उसकी लक्ष्मी जीर्ण हो चुकी थी अतएव लोग इसको जीर्ण श्रेष्ठी कहते थे। उसको प्रभुके आगमनकी खबर हुई अतएव वह उसी उपवनमें गया जहां कि प्रभुका वास था। वहां जाकर उसने अत्यन्त भक्तिसे द्रवित हृदयसे प्रभुकी स्तुति की। उसकी भावना यह थी कि एक दफा प्रभु उसके यहांसे आहार ग्रहण करे और उसकी इच्छाको पूर्ण करे। उसने इसी उद्देश्यसे अपने यहां प्रासुक और अपनी सम्पत्ति अनुसार उत्तम भोजन तैयार रखे। प्रभु इस समय दीक्षा लेनेके पश्चात् विशाला नगरीमें अपने ग्यारहवें चतुर्थमासको निर्गमन करते थे और इस चतुर्थमासमें उन्होंने चार मासके उपवासका व्रत ग्रहण किया था। व्रतकी सीमा उसी दिन पूर्ण होनेवाली थी। जिनदत्त शेठ उत्तम भोजनकी सामग्रीको तैयार करके बैठा था और अत्यन्त औत्सुक्य-भावसे प्रभुके आगमनकी राह देख रहा था। प्रभु आज मेरे यहाँसे भोजन ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करेंगे आदि गहरे मनोभावोंसे वह विचार करता था। परन्तु इसके दुर्दैवसे अथवा और किसी कारण-वशात् प्रभु उसके यहाँ नहीं गये। इस समय उस शहरमें एक दूसरा नगरसेठ था जो बड़ा धनिक था। द्रव्यके अभिमानसे उसकी मति क्षुद्र और संकुचित हो चुकी थी। उसने निष्कंचन और

शुष्क शरीरवाले प्रभुको भिक्षाके अर्थी देखे अतएव अपनी सेवकिनसे कहा कि इसको कुछ लाकर दे दे ताकि यह यहाँसे शीघ्र चला जाय। दासीने शेठकी आज्ञानुसार भिखारीके योग्य जैसा तैसा अन्न वोहरा दिया उसको लेकर प्रभु चल दिये। सर्व तरहके अन्न प्रति वे समानता ही रखते थे, परन्तु दूसरी ओर जब यह बात भाविक जिनदत्त सेठको मालूम हुई कि प्रभुने उस अभिमानीके यहाँसे भोजन ग्रहण किया है अतएव अब वे मेरे यहाँ नहीं आनेवाले हैं। इसपरसे उसको अपने मंद भाग्य पर विशेष तिरस्कार मालूम हुआ। वह प्रभुके स्वरूपका चिंतन कर रहा था और अपने मार्गकी प्रतीक्षा करता था। इतना ही नहीं परन्तु वह अत्यन्त भक्ति परायण और एकाग्र चित्तसे प्रभुको भोजन करानेके द्वारा अपने जीवनको साफल्य करना चाहता था। प्रभुने तो वहाँसे अन्यत्र विहार भी कर लिया। जिनदत्तकी मनोभावना अफल गई इससे उसका हृदय क्लेशकी अग्निसे विदग्ध रहा करता था। प्रभु जिस परम पदको प्राप्त करनेकी गतिमें हैं उस गतिमें भी अपने अन्न द्वारा यत्किंचित् सहायता देकर उस पद प्रति मेरी परायणता तो कमसे कम व्यक्त करूं और इसी प्रगाढ़ मनोरथसे उसका मन उल्लसित हुआ था परन्तु जब उसको मालूम हुआ कि उसकी भावना सिर्फ चिन्तात्मक रह गई है और उस संकीर्ण मर्यादाका उल्लंघन कर क्रियात्मक नहीं होने पाई तब उसने विचार किया कि प्रयत्नकी कमीसे ही ऐसा होनेपाया है। जिनदत्त इसतरह विचार करने लगा कि जो मात्र भावपर्यवसायी ही रहता है उसकी कीमत कुछ नहीं परन्तु जब कार्य पर्यवसायी होता है तब

उसका सम्पूण सुख मिलता है। जो कि जिनदत्तका उपयोग मात्र भावपर्यवसायी अथवा चिन्तात्मक ही नहीं था। उसने विचारको मनमें ही नहीं रखा था। परन्तु अपनी भावनाको क्रियात्मक करनेके लिये सब तैयारी कर रखी थी। परन्तु जब उत्तम पुरुष अपने उद्देशको हर तरहका प्रयत्न करने पर भी अपूर्ण और आधे अपूर्ण ही देखते हैं तब वे वहाँपर अपने पुरुषाथकी न्यूनता ही देखते हैं। जिनदत्तने प्रभुके भक्ति भावका अवसर खोया इसलिये वह अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा। इसके पश्चात् थोड़े ही समयमें उस नगरके उपकंठ (Suburb) में पार्श्वनाथ प्रभुके शिष्य समुदायमेंके कोई परम ज्ञानी माहात्मा आये। एक मुमुक्षु उनके दर्शनार्थ गया और उसने वंदनापूर्वक प्रभुके आहार सम्बन्धी सब हकीकत उनके सामने प्रकट की! उसने उनसे पूछा कि जिनदत्त शेठ तो भोजनको नहीं बोहरा सका और नगरशेठ जिसके चाहे जैसे क्षुद्र भोजनसे भी प्रभुकी उदराग्नि शान्त हुई थी। इन दोनोंमेंसे अधिक पुण्य किसने प्राप्त किया? मुनिने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनाके यथातथ्य विवेकद्वारा उत्तर दिया कि " अपनी उग्र भावनासे जो फल जीर्ण शेठने सम्पादन किया है उसका एक अंश भी नगरशेठने नहीं प्राप्त किया। नगरशेठकी भावनाहीन क्रियाका फल अत्यन्त स्तोक और नहींतुल्य है और जिनदत्तने अपने परम विशुद्ध परिणामसे और प्रभु प्रति निरवधि भक्तिभावसे अच्युत देवलोककी गतिका फल प्राप्त किया है। प्रभुके भोजनाथ उनकी राह देखते समय उसका आत्म-परिणाम बहुत अधिक त्वरासे उच्च श्रेणिमें बहता था और उसके भाव

उत्तरोत्तर अधिक तद्रूप होते जाते थे। यदि थोड़ी देरतक उसने दूसरे स्थानसे प्रभुके भोजन करनेका हाल नहीं सुना होता और चित्तका विक्षेप नहीं किया होता तो थोड़ी ही देरमें जिनदत्त परमपदको प्राप्त हो जाता। जिसको संग्रह करनेके लिये प्रभु वर्षोंसे लगे हुए हैं! परन्तु थोड़ी ही देरमें उसने अपनी परिणाम धाराकी आशा निष्फल देखी। अतएव इस पदको वह तत्काल प्राप्त नहीं कर सका, खाली श्रेष्ठ देवलोककी गतिको ही उपार्जित करसका।

इस प्रसंगमेंसे दो सत्य उद्भवित होते हैं (१) भावना हीन क्रियाका फल बहुत कम होता है। (२) कर्त्तव्यके लिये पुरुषार्थ बिदून अकेला निर्बल मनोरथ भी उतना ही निर्बल है। हमें कुछ विस्तारसे इस मर्मको स्पष्ट करना उचित है।

(१) बंधका निर्णायक हेतु परिणाम अथवा भावना है, कर्म नहीं। हम अकेले कर्मसे स्व अथवा परका भला नहीं कर सकते। हम कितना ही अधिक प्रयत्न दुःखको टालनेके लिये क्यों न करें परन्तु इससे हम किसीका स्वल्प दुःख नहीं टाल सकते हैं अतएव हरएकको यह बात सदा स्मरणमें रखनी चाहिये। जिन लोगोंका यह मानना है कि विश्वके प्रति कुछ भी परोपकार करनेमें हम विश्वका कल्याण कर लेते हैं वे अपने आप ही ठगे जाते हैं इतना ही नहीं परन्तु परको हित करनेका अभिमानवाली भावनासे वे उलटे अपने आपको बंधनमें डालते हैं दुनियां अपने जैसे क्षुद्र मनुष्योंके परोपकारकी राह नहीं देखती है और जो हम ऐसी अहंकारतामें फूल जाते हैं, इससे पूरे पूरा हमें ही नुक्सान है। साफ तौरपर देखनेसे यह दृष्टिगोचर होगा कि मनुष्यके परोपकार करनेका प्रयत्न ही दूसरेके

हितका नहीं परन्तु स्वके हितका ही साधक है और इस स्वहित परिणामका आधार, उस परोपकारी कृत्यके स्थूल प्रमाणपर नहीं, परन्तु जिस स्वार्थकी भावनामेंसे यह कृति उद्भवित होती है, उस पर होता है। दूसरेके हितका होना अथवा न होना उसकी स्वकृत कर्मकी विचित्रता पर निर्भर है परन्तु हमारे हितकर चिंतनसे और कार्यसे हमें उसमेंसे अंतर्गत स्वार्थ त्यागके तारतम्यानुसार जरूर ही फल मिलता है। इससे हमें जो फल मिलता है वह हमारी कृतिमेंसे नहीं, वह कृतिके मूल और उसके आत्मस्वरूपमें रही हुई स्वार्थ-पनेकी भावनामेंसे मिलता है। अक्सर हमारा कर्त्तव्य दूसरोंको सुख-रूप होसके उतना सम्पूर्ण तथा प्रबल नहीं होता। अतएव दूसरोंके सम्बन्धमें कृत परोपकार रूप प्रयत्न निष्फल ही जाता है, परन्तु परोपकार करनेवाला उस प्रयत्नके बीज द्वारा शुभाशुभ प्राप्त कर सकता है यदि उसके अंदर स्वार्थ त्यागकी भावना विस्तरित हो चुकी हो। यदि ऐसा नहीं होता और फलका आधार सिर्फ अकेली स्थूल और भावना हीन कृतिपर ही होता तो इस विश्वमें किसी द्रव्य हीन मनुष्यसे अपना कल्याण बन नहीं सकता और यदि धनी पुरुष ही अपने द्रव्य द्वारा स्व और परका सच्चा कल्याण कर सकते होते तो शास्त्रकारोंको निष्कंचनत्व न कहना पड़ता इतना ही नहीं परन्तु बोध देनेके बजाय चाहे जैसे अधिक पैसे संग्रह करके परमार्थ करनेका एकान्त उपदेश देना पड़ता। परन्तु जब ऐसा ही है तब हमें स्पष्ट मालूम होता है कि स्वयम्‌की कृति फलदायी नहीं है पर उस कृतिमेंसे पीछेसे जो स्वार्थ त्यागकी भावना होती है वही फलदायी है। त्यागकी भावना बिदून त्याग अक्सर अभिमानका

पोषक होता है इससे उसकी कृति उसके करनेवालेका तथा जिसके सम्बन्धमें जो किया जाता है उसका भी हित नहीं कर सकती। कभी समक्ष मनुष्यके सत्कर्मका उदय नजदीक हो और उसके निमित्त भी वह कृति उससे फलती हो, परन्तु यदि हम ऐसा कहें कि हमें मिलनेके फलके आधारसे ही समक्ष मनुष्यकी कृति सफल हुई है अथवा निष्फल गई है, परन्तु असलमें यह यों नहीं है परन्तु वह कुछ अंशमें हमारे स्वार्थ त्यागके परिणामरूपमेंसे उद्भवित होती है। दरअसल वही सफल होजाती है। संक्षेपमें मनुष्य दूसरेका परोपकार करनेसे अपना ही परोपकार करता है। इसका दूसरोंके सुखरूप होना अथवा न होना यह स्वके कर्मपर निर्भर है। आत्माके विकाशके अर्थ त्याग बहुत ही आवश्यक है इसलिये शास्त्रकार दान आदिकी बहुत महिमा करते हैं। दान यह कुछ महत्वकी वस्तु नहीं है परन्तु दान देनेके पहिले कृपणता और संकीर्णताका लोप ही महत्वकी वस्तु है। इस लोपको साधे विना अन्य क्षुद्ररूप हेतुसे जो क्रिया प्रकट होती है वह दान करनेवालेको उलटी हानि करती है कारण कि क्रियासे उसकी कीर्ति—लोभ आदि नीच वासनाएं पोषण पाती हैं और बलवान होती जाती हैं और ऐसा होनेसे ही महावीर प्रभु जैसे परम पुरुषको भोजन देनेवाले नगरसेठको जो फल मिला था वह मात्र नहींवत ही था और जिनदत्त जो कुछ भी नहीं देसका था उसने अपनी उत्कृष्ट भावनासे उत्कृष्ट फलको प्राप्त किया था।

(२) कर्त्तव्यके लिये जो फल जरूरी है उस प्रयत्न विदून खाली मनोरथ भी उतना ही फल हीन है। कितनी ही महान् पर-

मार्थिक भावना क्यों न हो, परन्तु यदि वह मात्र चिंतनमें ही अटक जाय तो वह नहींवत् है। हुई न हुईके बराबर है। चिंतन (Filling) संकल्प (Willing)के प्रदेशमें इसको आगे रखी जाय और वहां इसे कृतिकी पूर्णता पर लाई जाय तो ही उस कृतिके मूलमें रहा हुआ चिंतन सफल गिना जा सकता है। चिंतनकी महिमा मात्र एक कृतिका साधन ही है। जिस चिंतनसे संकल्प और कृतिका अनुसरण नहीं होता है वह हमें और जगत दोनोंके लिये व्यर्थ है, कारण कि हम दूसरेके दुःखके लिये कितने ही दुःखी होकर क्यों न बैठ रहे तो भी उससे उस दुःखितका कुछ भी दुःख कम नहीं होता। कदापि हम इस शुभ भावनामें कैसे भी लाभ देखनेको जाते हैं तो इसके बदलेमें इतना ही कहा जा सकता है कि इससे हमारे समभाव (Sympathy)का अभ्यास बढ़ता है। उसकी कल्पनासे जगतके दुःखका दृष्टिगत अनुभव होनेसे हम सुखमें उत्पन्न होनेसे बच जाते हैं और हम दुःखके समय सरल दुःखकी कल्पनाके अभ्यासके बलसे कुछ दृढ़ रह सके। परन्तु यह लाभ कुछ महत्वका लाभ नहीं है और यदि यह महत्वका गिना जाय तो यह दूसरी विधिसे भी प्राप्त हो सकता है। यदि हम हमसे सुखीके साथ हमारे सुखका मुकाबला करे तो हमारी उन्मत्तता और मद बैठ जाता है और दुःखके समय हमें हमारेसे अधिक दुःखी जनोंके दुःखके साथ मुकाबला करना चाहिये जिससे कि हमारा दुःख शीघ्र दब जाय ऐसा करनेसे हम संतोषसे रह सकते हैं। इसलिये मात्र भाव और चिन्तात्मकपनेकी क्रियाको उल्लेख कर मात्र कृतिके पुण्य प्रदेशमें प्रवेश करना ही सच्ची उदारता है, हृदयका विस्तार है तथा स्वार्थ त्यागसे

सम्मिलित है। दुःखी जनोंके दुःखको हम देखते हैं और उनमें किसी दुःखको दूर करनेकी हमारी शक्ति है परन्तु उस समय हम अपनी शक्तिका सदुपयोग न करते मात्र उसकी ओर दुःखका रुक ही बताते हैं कि " अरे! यह बेचारा कितना पीड़ासे दुःखी है ? ऐसी भावनासे दया नहीं होती है परन्तु उल्टा दयाका खून होता है, इतना ही नहीं परन्तु यह सम्पूर्ण निर्दयता है। जितने अंशमें उसका दुःख दूर करनेकी हमारी शक्ति अधिक है उतने अंशमें हमारी निदयता भी अधिक गिनने योग्य है। हमारे सहज प्रयत्नसे उसका दुःख दूर होता है अथवा न्यून होता हो तो भी हम उसकी अपेक्षा करके मात्र समभावको दर्शाकर चले जाय और ऐसे समभावको दयाके नामसे संबोधित करना ही वास्तवमें दयाके स्वरूपकी मश्करी करना है। जब किसीके मनमें पूर्ण दया उदय होजाती है तो वह कृति हुए विना निश्चित नहीं बैठेगा। जैन लोग जिसको 'भावदया' कहते हैं वह भावना इस समय लोगोंके मनमें ऐसी अस्तव्यस्तरूपमें रह गई है कि अक्सर सिर्फ हवाई किल्लोंको अथवा शेखसल्लीपनाको भावदयाकी संज्ञासे सबोधित किया जाता है; परन्तु भावदयाका स्वरूप ऐसा नहीं है। दूसरेके दुःखकी स्थितिका तद्रूप अनुभव और उस स्थिति प्रति हमारी समदुःखिता अथवा अनुकम्पा (समस्त मनुष्यके हृदयकम्पका हमारा हृदय अनुकरण करे वही क्रिया) और इसके पश्चात् हृदयार्द्रता तथा हृदयार्द्रताके बाद स्वार्थत्याग आदि हृदयकी सामग्रीके समुच्चयको भावदया कहना चाहिये। इतनी सामग्री तैयार होनेके पश्चात् कृति होनेमें कुछ देर नहीं होती मात्र एक टकोरेकी ही अपेक्षा

रहती है। कृतिका उपादान कारण उपरोक्त सामग्रीका समूह ही है; अर्थात् वह कृतिकी पूर्व पर्याय है। ऐसा बनने योग्य है कि इतनी सामग्री होनेपर भी अक्सर उस भावदयावाले मनुष्यसे कृतिके प्रदेशमें नहीं जाया जाता कारण कि उसकी कृतिसे समक्ष मनुष्यका दुःख न टले तो उस कृतिका निष्फल व्यय होता है और इससे उसकी विवेक शक्ति कृतिमें उतरनेसे रोकती है तो भी इस भावदयासे उसको जो फल मिलना है वही मिलता है। कृति नहीं बन सकती इसलिये उसको फल शक्तिमें न्यूनता नहीं रहने पाती कारण कि कृति न होनेमें उसका प्रमाद अथवा स्वाथ हेतुरूप नहीं होता है परन्तु समक्ष मनुष्यके दुःखके बड़े प्रमाणको पहुँचनेके लिये उसकी यत्किंचित् सामग्री अशक्त होती है। मनोरथ और यथार्थ भावदयाके बीचमें जो भेद है वह इससे कुछ स्पष्ट हो जायगा। संक्षेपमें जब मनोरथ चिंतन करके ही बैठ रहता है तब भाव दया कृति करने पर्यन्तके हृदयवेगको विस्तारित कर सकती है। मनोरथका मूल क्षणिक आवेशमें होता है, तब भावदयाका बीज स्वार्थ त्यागमें होता है। मनोरथ यह नाश होनेका निमित्ति मनस्तरंग है, तब भावदयाका वेग कृति होनेसे होता है और यह नियत दशामें ही गति करता है और इष्ट हेतुका साधक होता है।

एक दिन प्रभु विहार करते २ किसी नगरके समीप वनमें आये और वहां देव वाणी और मनके योगका निरोध करके आत्मसमाधिमें स्थिरतासे खड़े थे। उस रास्ते होकर अपने बैलोंको हाँकता हुआ एक गड़रिया निकला। जब वह प्रभुके नजदीक आया

कि उसको अपना कुछ जरूरी काय याद आया और वह अपने बैलोंको प्रभुको सौंपकर थोड़ी उनकी निगाह दृष्टि रखनेके लिये कहकर चला गया। प्रभुके सर्व तरहके बाहिर योग, तबतक अङ्गकी नाईं संवरित होनेसे उस गड़रियाके कहनेपर अथवा बैल अपने समीपमें हैं इस पर उनका ध्यान नहीं था। गड़रिया यह समझा कि प्रभुने मेरे कहनेके उत्तरमें मौन ही रखा है परन्तु उन्होंने मेरे कहनेको स्वीकार लिया है। गड़रिया यदि प्रभुके आत्मस्थितिको समझसका होता तो प्रभुको प्राप्त होनेवाले दुःखद प्रसङ्गका संभव यहांसे ही रुक जाता। परन्तु ज्यों दुनियाके सौ में नीन्यानवे प्रसङ्गोंमें विरोध खड़े होनेमें एक दूसरेकी गैर समझ ही कारण भूत है। त्यों इस गड़रियेसे बैल सम्हालनेके भलामणके विषयमें भी बना है। प्रभु पीछेसे बैलोंको सम्हाल लेंगे और उनकी ऐसा करनेकी इच्छा नहीं होती तो ये उस समय इनकार कर देते; इसी खयालसे गड़रिया बैलोंको प्रभुके पास रखकर अपने कार्य पर शीघ्रतासे चला गया। प्रभुको तो गड़रिया, बैल अथवा भलामण इन तीनोंमेंसे एक भी बातकी खबर न थी। हुआ भी कुछ ऐसा ही कि बैल चरनेके लिये भिन्न २ दिशामें चले गये। बहुत देर बाद गड़रिया वापिस आकर देखता है तो वहां-पर बैल नहीं थे। प्रभुको बैलोंके विषयमें पूछा परन्तु वे क्या उत्तर देते तो अपने पूर्वकी मौन प्रतिज्ञामें खड़े थे अतएव उसको उनकी ओरसे कुछ उत्तर नहीं मिला इस परसे मूर्ख गड़रियेने यह खयाल बांधा कि इसतरह निरुत्तर रहनेमें और बैलोंका योग्य पता न देनेमें प्रभुकी अवश्य बददानत होनी चाहिये। बार २ अपने बैलोंका पता हासिल

करनेके लिये पूछने लगा, परन्तु उसके सर्व प्रश्नोंके उत्तरमें प्रभु मौनमें ही रहे तब वह अत्यन्त क्रोधित हो गया। प्रभु तो अपने स्वरूपमें तल्लीन थे अतएव उनके आसपास जो कुछ होता था उस बातका उन्हें जरा भी भान नहीं था। यदि उनके योगका वर्त्तन बाह्य भावमें होता तो यह गैरसमझ खड़ा होनेके कारणसे बचें होते और इस खराब प्रसंगसे निकल जाते, परन्तु प्रभु स्वयम् अपने इस अज्ञात वर्त्तनसे गढ़रियेके मनमें क्रोध उपस्थित करनेमें निमित्तरूप नहीं हुए होते; परन्तु प्रसंगपर इस गढ़रियेके द्वारा कर्मफलदात्री सत्ताको अपना बदला लेना है उसका काल व्यतीत होचुका है कि जो दुःखद कारणोंको प्रभुने पहिले गतिमें रखे थे। प्रभुको इस समय प्राप्त होनेवाले कष्टका कारण उन्होंने अपने पूर्व वासुदेवके भवमें इसतरहं रचा था कि वे एकदफा निद्रा होनेकी तैयारीमें थे इसीलिये वे अपनी शय्यापर जागृतावस्थामें सोते थे उस समय उनका शय्यापालक इस गढ़रियेका शरीरस्थ आत्मा था। वासुदेवने अपने शय्यापालकको आज्ञा दी थी "कि अभी जो संगीतवाद्य आदि बज रहा है इन सबको जब मैं निद्रावश हो जाऊँ फौरन बंद करा देना। मात्र मैं जहां तक निद्रावश न होऊँ वहाँ तक इनको जारी रखना" गायकोंने अपने संगीत बंद करनेके नित्य समयपर इसको बंद करनेकी आज्ञा मांगी परन्तु शय्यापालक तो उस समय रागवश हो चुका था अतएव उसने संगीतको शुरू रखनेकी आज्ञा दी। गायक लोग उसकी आज्ञानुसार सुबह तक गाते बजातें रहे। अब वासुदेवके जगनेका समय होगया है . उसने

इस बातको ध्यानमें नहीं रखा और संगीतको जारी ही रखवाया। आखिरमें नृपति जगकर क्या देखता है ? कि जो संगीत रातके पहिले प्रहरसे शुरू हुआ था वही अभी सुर्योदय तक बराबर हो रहा है। उन्होंने गायकोंसे पूछा तो उन्होंने प्रार्थना की कि शय्यापालककी आज्ञानुसार हम कार्य कर रहे हैं। इससे वासुदेव-को अपनी आज्ञाकी अवगणना करनेसे अपने अनुचरकी रागांधता पर क्रोध आया और उसको बुलाया। उसने जिस इन्द्रियको तृप्त करनेके लिये अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन किया था, उस इन्द्रियके उपयोगका सदन्तर नाश करनेका हुक्म दिया। उसके कर्णके सूराखमें शीशेका गर्म रस डालकर वे बंद कर दिये गये। यह निर्दयतासे भरा हुआ कार्य करनेमें पूर्वभवमें वासुदेवके शरी-रस्थ और इस समय प्रभुके शरीरमें विराजमान आत्माने जो प्र-चंड और उग्र भावका सेवन किया था उसका बदला भोगनेका अनिष्ट प्रसंग प्रभुके लिये नजदीक आगया। प्रभुने पूर्वभवमें अपने राजत्वके अभिमानके कारण सहज कोपोत्तेजक कारणसे अपने सेवकके कर्णमें शीशा डलाया था यह बहुत ही भयङ्कर काय था। त्यों इस भवमें गढ़रिया सहज बैलोंका ठीक पता प्रभुकी ओरसे न पानेसे कुपित होगया और प्रभुके कानोंमें शरकर वृक्षकी मेख ठोक दी। जिससे कि उनके कानोंमें इन मेखोंके अस्तित्वकी किसीको खबर न होने पावे अथवा वे वापिस न निकले इसलिये मेखोंका जो भाग बाहिर बचा था उसे काट दिया। निरागी प्रभु इस बलवान चलित

प्रसङ्गसे जरा भी अपने समभावव्रतसे नहीं डीगे। वे इस बातको अच्छी तरहसे जानते थे कि इस विश्वमें एक स्फुरण जितना कार्य भी पूर्वमें रचित कारण बिना नहीं प्रगट होता है। गड़रीयेने उन्हें जो उग्र कष्ट दिया उसके कारण भी स्वयम् आप ही थे। वह कारण उस समय गढरिये द्वारा फलरूप हुआ था इस बातसे प्रभु अज्ञात न थे।

वासुदेवके भवमें प्रभुने अपने सेवकके कानमें शीशा उलवाते समय जिस मनोभावका सेवन करके भयङ्कर वेदनीय कर्म उपार्जन किया था उस मनोभावके अन्तर्गत मुख्यत्व दो तत्त्व थे (१) खुदकी उपभोग सामग्रीको अन्यके उपभोगके लिये उपयोग होता देखकर प्रगट हुई ममत्त्व भावना (२) अलबता उस शय्यापालकको दूसरेके हक्क पर आक्रमण न करना था और उसके दंडरूपमें उस आक्रमणके स्वरूपके विस्तार पर लक्ष रखे विना क्षणिक आवेगके वश होकर, मदांधतासे किसीको मरजी मुजब शिक्षा करनेकी भावना और खुदके लिये अभिमानसे यह खयाल करना कि हमें कोई पूछनेवाला नहीं है। खुदकी उपभोग सामग्रीका सुखा स्वाद अन्यद्वारा होता देखकर उसका बदला लेनेके लिये जो वृत्ति उद्भवित होती है, उसकी तीव्रता, गाढ़ता, और स्थायित्वका नियामक उस उपभोग सामग्रीमें रहा हुआ ही स्वका ममत्त्व है। मेरे पुण्य बलसे जो कुछ मुझे मिला है उसका भोक्ता मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं होना चाहिये, यदि नजर बचाकर कोई उसका लाभ लेले, कोई उसका अयोग्य तौर पर उपयोग करले, अथवा वह योग्य सामग्री मेरे पाससे छीन ले, तो उसका मरजी

सुजन दुबला मुझसे जितना होसके उतने ही आवेगसे मैं लूँ, और मानव हृदयका सदा स्वाभाविक वेग ऐसा ही होता है। परन्तु यदि मनुष्य सरलता पूर्वक निर्मल बुद्धिसे विचार करके देखे तो उसको मालूम होगा कि जिस वस्तुको वह अपने पुण्य बलसे उपस्थित हुई गिनता है और जिसको मात्र स्वके उपभोगके साधनकी कल्पना करता है, उस वस्तुका सुखदायीत्व बहुत आंगतुक कारणो पर आधार रखता है अर्थात् उस वस्तुकी भोग प्रदान शक्ति, भोक्ता जिसको उसके उपभोगसे अलग रखना चाहता है वह उसके ऊपर ही बहुत अवलम्बित रहती है। वस्तुका सुखदायीत्व जिन अंशोके समुच्चयसे उद्भवित होता है, उन अंशोका तिरस्कार ही मुर्खाइसे भरा हुआ कार्य है और इधर उधरका समाज हमारे इन भौतिक विषयोंके सुखदायी स्थितिका मुख्य अंग है। समाज और हमारे सुखका अवयव-सम्बन्ध है—अर्थात् जन समाज यह हमारे सुखका मुख्य घटक अथवा अंश constitnent है। हमारे उपभोग सामग्रीके मूल्यका कितने अंशमें समाजपर आधार है उसका किंचित विवरण इस स्थानपर नहीं गिना जायगा।

मनुष्यके हृदयका गुप्त अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि सुन्दर और सुखद वस्तुका उपभोग करनेसे ही उसकी परितृप्ति नहीं होती है। परन्तु उसके साथ हमारे सुखानुभवका बाहिरी जगत्को भी ज्ञान है उसका भान और उसके भोक्ता होनेमें ही आधोआध सुख है। सुन्दर वस्त्रालंकार पहिननेमें जो सुख समाया हुआ है उसका पृथक्करण करनेसे मालूम होता है कि उस सुखका जरा भी अंश उस वस्त्रालंकारमें स्वतः नहीं रहा होगा। उसमें स्पर्श सुखका भी

हक नहीं है। परन्तु उल्टा इससे शरीर पर एक प्रकारकी उपाधी रूप एक तरहका खिंचाव ही मालूम होता है। तो भी उसमें जिस सुखका अनुभव किया जाता है, वह "खाली एक तरहका भान ही है कि हमें ऐसे सुंदर अलंकारमें परिवेष्ठित देखकर आसपासके लोग हमें सुखी गिनेंगे,"। अलंकारके अङ्गमें रहनेवाली भावनाको बाद कर दी जाय तो शेष मुशकिलसे ही कुछ रहने पावेगा और यह ऐसा ही है इसलिये अलंकारद्वारा अपनी सुखमय अवस्थाका जाहिरनामा फेरनेवाला ही अपने घरके पोपिदा कोनोमें उन अलंकारोंको एक ओरपर रख देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संसारमें प्राप्त अवसर सुख ही है कि "आसपासका जनमंडल हमें सुखी माने" और वे इसी अभिमानके आश्रित रहते हैं। यदि उनके आसपास उनको सुखी गिननेवाला कोई मनुष्य न हो अथवा अपनी सुखमयताके अभिमानका कुछ भी निमित्त न हो तो उनकी सुख सामग्री तथा उनके पुण्यबलसे जो सामग्री उनको प्राप्त हुइ है उसका मूल्य कुछ नहीं रहता। सुखी होनेके लिये अकेली सुख सामग्री ही नहीं है, परन्तु इसके पहिले जो अपने आपको ऐसी सुखसामग्रीसे सुखी मानते हैं उन मनुष्योंके मंडलकी ही संसारमें प्रथम आवश्यक्ता है।

जब आसपासके जनमंडल पर हमारे सुखका इतना अधिक आधार है अर्थात् वह हमारे सुखके आत्मा समान है तो फिर "हमारी उपभोग सामग्री पर उनका कुछ भी हक नहीं और हमारे पुण्य संचयसे प्राप्त सुखके हम ही भोगता हैं। ऐसी भावनाओंको माननेवाले हृदय संकोच, दीनता और विषय लालचाके

अतिशयको सूचित करते हैं। अपने पुण्यबलका अभिमान रख- नेवालेको समझना चाहिये कि यह सारा संसार तुम्हारे सुखके अर्थ नहीं घडा गया है अथवा तुम्हारे पुण्यबलमेंसे नहीं प्रकट हुआ है। हमारे सुखानुभवका मुख्य अंगरूप समाज प्रति तिरस्कार वृत्ति ही आत्माकी अधम दशाका ही प्रकार है हमारे मालिकीकी चीजको हमारे सिवाय दूसरे किसीको भोगनेका हक नहीं है और इसका नियम राजकर्त्री सत्ताने मात्र व्यवहारमें अव्यवस्था न होने पावे इसके लिये ही घड़ा है। यह लौकिक नियम, विश्वका राज्यतंत्र चलानेवाली दिव्य शक्तिके लिये जरा भी बंधनकर्त्ता नहीं है। सहुलीयतके लिये बनाये हुए नियम आदि प्रकृतिके महा राज्यमें प्रवर्त्तित नियमोंको प्रतिनिधीरूपमें मान लेनेकी भूल बुद्धिमान नहीं करते हैं। हमारे स्वामीत्वकी वस्तुपर दूसरे आक्रमण न करे इसके लिये नियम घड़नेमें लौकिक सत्ताका हेतु लोगोकी स्वार्थवृत्तिको मर्यादामें रखनेका ही है, परन्तु ईश्वर के महाराज्यमें ऐसे स्वार्थोंके लिये अंधेरा नहीं है अतएव उसमें प्रवेश करनेकी इच्छावालेको इस स्वार्थवृत्तिको त्याग देना चाहिये कि अपनी वस्तुके उपभोगका सम्पूर्ण हक अपना ही है और उसमें दूसरेका कुछ नहीं है। हमारी वस्तुका मालिकी हक हमारे सिवाय दूसरेका कुछ नहीं है जो ये भावना हमारे अंदर घर करके बैठी हुई है और यदि ऐसा प्रभुके घरका कायदा होता तो महावीर और बुद्ध आदि ईश्वर कोटीके पुरुष उस नियमका उल्लंघन कभी नहीं करते परन्तु जब उन्होंने अपना मालिकी हक दुनियाको बाँट देनेमें ही अपना सच्चा हित माना तब उनको आदर्श रूपमें मान-

नेवालोंको स्वीकारना ही पड़ेगाः—" हमारी सुखसामग्रीका हम अकेले ही उपभोग करे " यही स्वार्थभावना आत्माका अधःपतन करती है।

वासुदेवके भवमें अपने शय्यापालकके कर्णमें शीशा रेडनेकी जो क्रूर शिक्षा महावीर प्रभुने की थी, उसके अन्तर्गत जो उग्रह और निष्ठुर परिणाम था वह उनको इस भवमें उदयप्राप्त प्रचंड-वेदनीय प्रकृतिमें हेतुरूप था। एक अल्प अपराध करनेके लिये भयङ्कर दंड करनेके कार्यमें वासुदेवकी जो तीव्र स्वार्थभावना और घातकी वृत्ति समाइ हुई थी उसके फलरूप वर्त्तमान भवमें महावीर प्रभुको वैसी ही शिक्षा सहन करनी पड़े इसमें कोई शक नहीं है कि यह निसर्गके नियमके बिल्कुल अनुरूप होने योग्य था हमे कोई पूछनेवाला नहीं है और हमारे सेवकका जीवन मरण हमारे हाथमें है, इसलिये राग द्वेषानुकूल सजा कर देनेकी भावना रखना वासुदेवके लिये घटित न था। उसमें विशेष करके जब सेवक उस आज्ञाकी शिक्षाके विरुद्ध अपना कुछ बल आजमा नहीं सकता था। और प्रत्याघात करनेका उसको जरा भी समय नहीं मिला, उस समय वासुदेवको अपने वैरकी भावना पर अंकुश रखना चाहिये था। जब समक्ष मनुष्य हमारे विरुद्ध हाथ नहीं उठा सकता तब उसके प्रति काम लेनेमें मनुष्यको बहुत विवेक रखना चाहिये। हमारे कार्य विरुद्ध समक्ष मनुष्यको कुछ विरोध करनेकी अथवा अपना बल आजमाइश करनेकी तक प्राप्त हो तो दोनोंकी विरोधभरी रुक कितनेक अंशमें स्थूल भूमिका पर टक्कर खाकर नाश होजाती है और इससे बहुत उग्र कर्मबंध

नहीं होता है। परन्तु जहाँ ऐसा नहींहोता है—अर्थात् एक पक्षको चुपचाप शिक्षाही सहन करनी पड़ती है वहां यह शिक्षा दोषके प्रमाणसे अधिक होती है तो उसका वैर शिक्षा सहनेवालेकी आत्माकी सूक्ष्म भूमिकापरसे उचलकर अधिक होजाता है और उसका फल आखिरमें बहुत बुरा होता है।

प्रत्याघातके सामने यदि मनुष्यको अवसर मिले तो वह वैरभाव कुछ स्थूल कार्यद्वारा शिथिल पड़जाता है परन्तु ऐसा जहां नहीं होता है, वहां वैरवृत्तिका बल समक्षपक्षकी सूक्ष्म भूमिका ( astral plane ) उपर एकत्र होता है और उसके परिपाकका अवसर आनेपर, उस शिक्षा करनेवालेसे भयङ्कर बदला लिये बिना उस वैरवृत्तिकी शांति नहीं होती और बात भी ऐसी है अतएव बहुत बुद्धिमान राजा दुश्मनके कैद मनुष्यो प्रति अच्छा वर्त्तन रखते हैं और उनकी अच्छी तरहसे सेवा सम्हाल करते हैं। यदि वह उस समय चाहे तो सर्व मनुष्योंको मार सकता है क्योंकि उसके अन्दर उनको मारनेका सामर्थ्य है। उसके इस वर्त्तनके सामने वे लोग अपना हाथ नहीं बता सकते हैं अतएव वह ऐसा करनेमें महान् अनिष्ट फल देखता है। सत्ताहीन रंक मनुष्योंको दुःख देनेमें अथवा उनको उनके अपराधके प्रमाणसे अधिक शिक्षा करनेमें जो भयङ्कर अनिष्ठता रही हुई है उसको आत्मज्ञ पुरुष ही अच्छी तरहसे समझ सकते हैं। सूक्ष्म भूमिकापर उस वैरका रुक कैसे पोषण पाकर बढ़ता है, उसका स्वरूप जो जानते हैं, वे जगत्को बारम्बार ऐसे कार्यसे सचेत रहनेकी सलाह देते गये हैं। हमारी शिक्षाके सामने विरोध करनेको सत्ताहीन प्राणियोंके

उष्ण निश्वासमें लोहूको भी भस्मीभूत करनेका प्रचंड दावानल भी गुप्त तौरपर समाया हुआ है। यह संदेशा अनेक पुरुष विश्वको देते गये हैं इतिहासके पृष्ट भी इसी सत्यकी शाक्षी देते हुए हमारे सामने पड़े हैं। अयोग्य दंड देनेकी वृत्तिसे सर्व प्रजा और सर्व खंडव्यापी राज्यसत्ताएं विनाश हो चुकी हैं, तो एक गरीब मनुष्य ऐसी वृत्तिके उग्र फलसे कैसे बच सकता है? वासुदेवको ऐसी शिक्षा देते समय ऐसा ही गर्व था कि मेरे शासनचक्रमें रहनेवाले सर्व मनुष्योंके साथ मैं जो कुछ चाहूँ वह कर सकता हूँ। मेरे कार्यके सामने सिर उठानेवाली इत्तरसत्ता इस विश्वमें और कोई नहीं है। परन्तु वे अभिमानके आवेशमें इतना देखना भूल गये कि इस भवके अलावा अन्य भव भी है और इस भवके कार्यका फल आगामी भवमें मिलता है। सत्ता मनुष्यको अंधा बना देती हैं उस समय उसके अंदर पहिलेका निर्मल विवेक नहीं रहता है। वासुदेवके लिये यह बात बनी थी वे अपनी सत्ताके अंगमें रही हुई विवेक रखनेकी जबाबदारीका भान भूल गये। उसका परिणाम यह निकला कि इस भवमें महावीर प्रभुके देहमें उसका विपाक सहन करना पड़ा।

कष्ठ सहन करनेका ही जिसका वृत है उन वीर प्रभुने उस गढ़रियेके कार्यकी चोटको शान्तिपूर्वक सहन करली। वहांसे विहार करके अनुक्रमसे प्रभु एक नगरमें गये। वहाँ एक खरक नामक वैद्यने प्रभुके शरीरकी कांति निस्तेज देखकर अनुमान किया कि उनके शरीरमें कुछ शल्य होना चाहिये। शोध करते २ कॉनमें किले मालूम हुए। सिद्धार्थ नामक श्रेष्टिकी मददसे उस वैद्यने

प्रभुके कर्णमेंसे कीले खिंच निकाले। कहा जाता है कि उस समय जो वेदना प्रभुको हुई थी उसकी उत्कटताके कारण उनके मुखमेंसे भयङ्कर चिल्लाहटके प्रमाणु निकले थे। प्रभुको अनेक उपसर्ग हुए थें तो भी उनके मुखसे एक भी कायरताका निश्वास न निकला था परन्तु इस आखिरी उपसर्गसे उनका उपयोग कुछ शिथिल हुआ था अथवा देहभाव अव्यक्ततासे उपस्थित होगया था। वहुतसे इस वातको असंभवित मानते हैं कि तीर्थङ्करके मुखसे ऐसी चिल्लाहट कभी नहीं हो सकती और वहुतसोका यह कथन है कि प्रभुके सव उपसर्गोंसे यह उपसर्ग अति कष्ठकर था। इस उत्कृष्ट उपसर्ग के पश्चात् प्रभुको एक भी उपसर्ग नहीं हुआ। दीक्षाके साड़ा वारह वर्ष उनके लिये कष्ठकी परस्परारूप ही थे। वे वारह वर्षमें साड़े अगीयारह वर्ष और पचीस दिन निराहार रहे थे तो भी उत्कृष्ठ पराक्रम क्षमा, निर्लोभता, आजव, गुप्ति और चितप्रसन्नता पूर्वक उन्होंने सव उपसर्गोंको सहन किये। ज्यों सुगंधित द्रव्यको जलानेसे अधिक सुगंध आती है त्यों प्रभु भी विशेष और विशेष परिसहसे विशेषमें विशेष विशुद्ध और आत्मभावको प्राप्त करते जाते थे। कष्ठ प्रसङ्ग ही देहाध्याससे मुक्त होनेके प्रसङ्ग हैं। मूर्ख मनुष्य उलटे उन प्रसंगोंमें देह सम्वन्धी ममत्व और हाय २ कर कर्मबंध करते हैं और देहभावको सदृढ वनाते हैं। विवेकी और मुमुक्षु जन उस अवसरपर देहादिक अपने नहीं है और आत्मा और देह तलवारके मियानकी नाइ भिन्न है, ऐसे अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। प्रभुके कष्ठके इतिहासमेंसे हमे जो शिक्षण लेना है उसमेंसे मुख्य यही है कि उनको ऐसे निमित्त प्राप्त होते ही देहा-

न्दिक वृत्तिका जय करके उससे अपनी असंगता, भिन्नता, अमर-सता साधी थी। मुर्च्छाके भावमें देहके कष्टोंको आत्मकष्टके तौर-पर गिने नहीं थे। ज्यों २ कष्ट अधिक तीव्र बनते गये त्यों २ उनका आत्मभाव गाढ़ बनता गया वे उपसर्ग मात्र अपने आत्मभावके अभ्यासके तौरपर ही मानते थे।

कष्ट यह मात्र मनुष्योको दुःख देनेके लिये ही आता है ऐसा नहीं मानना चाहिये। दुःखके साथ ही मनुष्य चाहे तो उन कष्टोंसे वह बहुत अमूल्य पाठ सीख सकता है कि जो पाठ साधा-रण संयोगोमें कभी नहीं सीखे जासकते मनुष्य हृदय गत अनु-भव दुःखके प्रसंगोमेंसे ही प्राप्त कर सकता है। और एक पक्षमें बुद्धिका शिक्षण मनुष्यके कल्याणके लिये उपयोगी है त्यों अन्य पक्षमें हृदयका शिक्षण भी उतना ही उपयोगी है और खास करके आत्मश्रेय साधककोको मुख्यतः हृदय शिक्षण ही उपयोगी है। अ-क्सर यह शिक्षण दुःखके प्रसंग पर जो अनुभव आत्मापर रख जाता है, उसमेंसे मिलता है दुःख धिक्कारने योग्य नहीं है। परन्तु वह दुश्मनके रूपमें मित्रका कार्य करता है अतएव उलटा वह चाहने योग्य है। मात्र मनुष्यको उसका सद् उपयोग करनेका है। उस दुःखानुभवकालमें हमे हमारी भूतकालकी भूलोंका भान होता है। और भाविमें ऐसी भूल न होनेके लिये वैसे ही सद् निश्चय बांधे जाते हैं। बुद्धिमतोको दुःखसे आत्माके निर्मल होनेका अनु-भव होता है और आत्मापरसे कितनेक घन आवरण पडते हुए मालूम होते हैं। सच्ची वस्तुस्थितिका, आत्मा अनात्माका और संसारकेस्वरूपका उसको ज्ञान होता है। अनुकूल वेदनीयके—सुखके

उदयकालमें उपरोक्त अनुभवका होना असंभवित नहीं तो अशक्य तो अवश्य है और ऐसे उत्तम अनुभवका उपयोग करके उसमें अपना हित साध लेना यह महावीरप्रभुके चरित्रमेंसे सतत् वहता हुआ एक अति मूल्यवान उपदेश है। महावीरके कदमपर चलनेका दावा रखनेवाले प्रत्येक मनुष्यको उनके जीवनमेंसे उद्भवित इस महान् शिक्षणको सदाकाल अपने हृदयमें स्थापित करके रखना चाहिये।

यह अखिरी उपसर्ग सहन करनेके पश्चात् प्रभुको कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो गया। कल्पसूत्रके अभिप्राय अनुसार वैसाख सुदी दशमके दिन, पीछले पहरमें, विजय मुहूर्तमें, जंभीक नाम गाँवके बाहिर, उज्जुवालुका नदीके तीरपर, वैयावर्त्त नामके चैत्यके नजदीक, शालीवृक्षके छायाके नीचे, गोदुए आसनपर बैठकर शुक्लध्यानको लक्षमें लेते हुए प्रभुने उस ज्ञानमें प्रवेश किया जिस ज्ञानमें सर्व प्रकारके ज्ञान समावेश होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण केवलज्ञानी होगये।

कैवल्य प्राप्त होनेके पश्चात् प्रभुका चरित्र परमात्म कोटिका होगया था वह हमारी मति और कल्पनाके बाहिरी प्रदेशका है। उसके बाद उनकी छद्मस्थचर्या बन्द होगई, और अब केवल चर्या शुरू होती है हम उस विषयमें उतरना नहीं चाहते हैं। मनुष्य मनुष्यके वर्त्तनमेंसे शिक्षण प्राप्त कर सकता है। ईश्वरके चरित्रका वह अनुसरण नहीं कर सकता और हमारा लिखित उद्देश मात्र प्रभुके मनुष्य देहधारी जीवनके प्रसङ्गोमेंसे उद्भवित सार उपार्जित करनेका ही है अतएव हम प्रभुके कृतकृत्य होनेके पीछले जीवन विभागमें प्रवेश नहीं करते हैं।

# हिन्दी विजय ग्रन्थमाला।
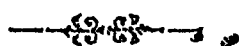
यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्यमें अपने ढङ्गकी अपूर्व और अद्वितीय है; यदि आप घर बैठे महात्मा पुरुषोंकी जीवनिएं पढ़ना चाहते हैं; यदि आप तत्त्वका रहस्य लूटना चाहते हैं; यदि आप समाजशास्त्रके सिद्धान्तोंको मनन करना चाहते हैं; यदि आप प्रकृति देहन आरोग्यशास्त्रके जानकरी होकर दीर्घजीवी होना चाहते हैं; यदि आप देश देशान्तरोंके उत्थान और पतनका हाल जानना चाहते हैं; यदि आप अमेरिका, इंगलैंड और जर्मनी आदि देशोंके नित्य नये प्रकाशित होनेवाले डाक्टर लुइ कुन्ने आदि प्रसिद्ध प्रकृतिक उपचारोंके ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद पढ़ना चाहते हैं तो शीघ्र ही **"हिन्दी विजय ग्रन्थमालाके ग्राहक हो जाइये।"** इसमें कई ग्रन्थ ऐसे प्रकाशित होगे जिसको हिन्दी संसारने आज तक कही नहीं सुना।

**नियम**–(१) स्थायी ग्राहकोको ग्रन्थमालाकी सर्व पुस्तकें पौनी कीमतमें मिल सकेंगी। प्रत्येक पुस्तक वी० पी० द्वारा भेजी जावेगी।

(२) प्रारंभमें केवल आठ आना 'प्रवेश फी' देनेवाले स्थायी ग्राहक समझे जावेंगे। (३) ग्रन्थमालामें साल भरमें कितनी पुस्तके निकलेगी इसका कोई मुख्य नियम नहीं है। ग्राहक लोग जिस पुस्तकको चाहे उसे खरीद सकते हैं।

# मेन्टलटेलीपेथी अर्थात् मानसिक संदेश ।

आकर्षण करनेकी शक्ति मनुष्यमें है। लेकिन उसका उपयोग करना बहुत कम लोग जानते हैं। इस शक्तिके द्वारा मनुष्य एक दूसरेसे बातचित कर सकता है चाहे वह कितने ही कोसपर अलग क्यों न हो। इस पुस्तकमें यह बताया गया है कि मानसिक आकर्षण द्वारा किस तरह एक दूसरेसे बातचीत होसकती है। यह पुस्तक एक अंग्रेजी पुस्तकके आधारपर लिखी गई है। यह विषय नवीन तथा चमत्कारपूर्ण है। इसको पढ़नेसे भारतवासियोंको अमेरिका ढङ्ग मालूम होजायगा जिसको हम लोग अब तक ईश्वर प्रदत्त समझ रहे हैं चार भागोंका मूल्य रु १) और प्रथम भागका मूल्य रु।) आने है।

मिलनेका पताः—ताराचंद्र दोसी
सिरोही ( राजपूताना )

---

# दुग्धोपचार और दूधका खाना ।

यह पुस्तक अमेरिकन प्रकृतिक साइन्सके आधारपर तैयार की गई है और इसमें ये बाते अच्छी तरहसे बता दी गइ हैं कि दूध एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा हरएक रोग आराम होसकता है इतना नहीं साथमें उसकी विधि और उपचार संक्षेपमें बताये हैं। मूल्य रु ०—४—०

मिलनेका पताः—ताराचंद्र दोसी सिरोही
( राजपूताना )

# 'जैन समाज'

## ( हिन्दी भाषाका मासिक पत्र )

इसका मासिक सम्पादन और व्यवस्था इतने दिन तक हमारे दूसरे मित्रोके हाथमें थी। उनसे जितना हो सका इसके लिये अच्छा कार्य किया और कर रहे हैं कईएक अनिवार्य कारणोंसे यह मासिक कुछ समय तक बन्द था। परन्तु जुन महीनेसे इस मासिकको हम फिर शुरू करते हैं इसके जो पुराने ग्राहक हैं उनको जितने महिने तक मासिक बन्द रहा है उतने ही फार्मकी हम पुस्तकें देनेको तैयार है जिसका विस्तृत नोट म्ये पुस्तकोके नामोके हम दो सप्ताहके अंदर सप्ताहिक पत्रोमें प्रकाशित करेगे। अबसे इस मासिकमें जो२ लेख रहेगे उनमें मुख्यतः समाजसुधार और शिक्षा पर होंगे। इसके भेटका पुस्तक महावीर जीवन विस्तार तैयार हो गया है जिन्हे ग्राहक होना हो ग्राहकश्रेणीमें नाम लिखादे और जो पुराने ग्राहक है वे हमे सूचित करे कि हम ग्राहक रहनेको तैयार है। उनकोय ही महावीर जीवन विस्तार पुस्तक तथा इस मासिक पत्रका पहिला अङ्क वी० पी द्वारा भेजा जायगा।

**वी० पी० सिंघी,**

मैनजर 'जैन समाज'

आबूरोड ( सिरोही )

शीघ्र नाम लिखा दो ! शीघ्र नाम लिखा दो !!

## मानव धर्म संहिता ग्रन्थ ।

यह ग्रन्थ जैन समाजमें बहुत मान प्राप्त कर चुका है और जितनी कदर वर्त्तमान ग्रन्थोंमें इसकी हुई है और किसीकी नहीं हुई। इसको हरएक मनुष्य अपने पास रखना चाहता है। यह ग्रन्थ एकवार प्रकाशित हो चुका है और इसकी सब कोपियें बिक चुकी हैं। लोग इस ग्रन्थको बड़े चावसे चाहते हैं और इसकी पुरानी कोपी खरीदनेके लिये दश २ रुपये देनेको तैयार होजाते हैं परन्तु उनको पुरानी कोपी नहीं मिलती। वे लाचार होकर हमारे मंडलको इसकी पुनरावृत्ति करनेको बारम्वार अनुरोध करते हैं। क्यों न हो, यह उन महात्माका लिखा ग्रन्थ है जिनसे सर्व लोग परिचित हैं। इन महात्माका नाम न्यायभोनिधि शान्त मूर्त्ति मुनिराज शान्तिविजयजी महाराज हैं। आप अच्छे वक्ता तथा तत्वज्ञ हैं। ऐसे महात्माओंके उत्तम ग्रन्थोंकी पुनरावृत्ति हमारा मंडल करे। यह इसके लिये कम सौभाग्य नहीं है। मंडलका सदा यही उद्देश होना चाहिये कि जिस्से जन समाजमें विशेष लाभ हो वैसे ग्रन्थोंको प्रकाशित करें। ग्रन्थ बड़ा है पहिले यह जिस समय छपा था उस समय कागजका भाव डेढ़ आनें रतल था आज उसी कागजका भाव दश आना रतल है तो भी हम इस उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करनेको तैयार हैं। अच्छे कागजों पर पक्के पुट्ठेमें सुनेरी अक्षरों सहित सुन्दर अक्षरोंमें तैयार होगा। मूल्य इसका रु ५—०—०से अधिक न होगा। इसके दो हजार ग्राहक होनेपर पुस्तक प्रकाशित होगी।

सैक्रेटरी—जैन ज्ञानप्रसारक मंडल, सिरोही।